UNIVERSAL LIBRARY
OU_182408
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.6 / P74V Accession No. G.H. 1227

Author पोद्दार, रामावतार अरुण

Title विदेह / 1954

This book should be returned on or before the date last marked below.

विदेह

(महाकाव्य)

काव्यकार

पोद्दार रामावतार अरुण

किरणकुंज, समस्तीपुर (बिहार)

प्रकाशक
किरणकुंज, समस्तीपुर (बिहार)

प्रथम संस्करण
मूल्य
आठ रुपये

चित्र-शिल्पी
मोतीराम (जम्मू)

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली

माननीय श्री सत्य नारायण सिंह

मिथिलेश श्री कामेश्वर सिंह जी

पिता-तुल्य

माननीय श्री सत्यनारायण सिंह जी

मन्त्री, भारत-सरकार

के द्वारा

साहित्यानुरागी

श्रद्धेय

मिथिलेश श्री कामेश्वर सिंह जी

को

सप्रेम समर्पित

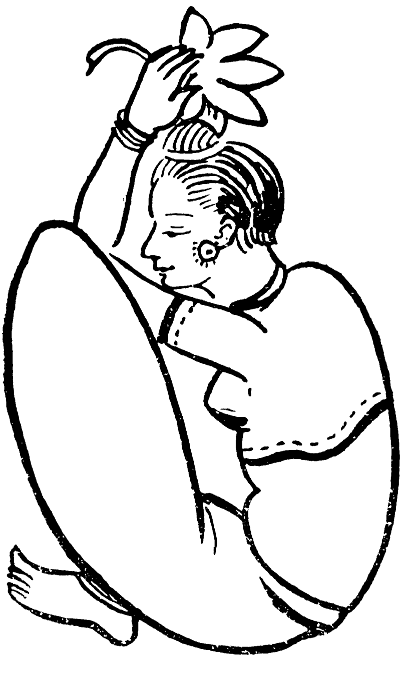

कवि अरुण : शब्द-चित्र

* जन्म—कार्तिक पूर्णिमा की रात १९२५ ई०
* बचपन से ही काव्य संगीत-नृत्य और चित्रकला की अभिरुचि
* प्रसिद्ध आलोचक पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी जी की वाणी में—
  "हिन्दी की नवीन पीढ़ी के कलात्मक अग्रदूत !"
* विदेह और विद्यापति की भूमि पर साहित्य-साधना
* हिमालय, गंगा और शान्तिनिकेतन के वातावरण मे कला-सृजन
* जन साधारण की हरियाली पर बैठ कर स्वप्न-निर्माण
* एक साथ पाञ्चजन्य और बाँसुरी की कठोर और कोमल भावनाओं के प्रणेता
* शुद्ध कलात्मक जीवन का एकान्त साधक। अपनी ही पंक्तियों में—

  आँधियों में आग खाना ही नहीं
  तूफान में दीपक जलाना जानता हूँ

  (क्योंकि)

  भूमि से आकाश तक मैंने उड़ायी
  गीत की कोयल यहाँ
  मैं बहारों को बुलाना जानता हूँ !
* १९५३ में बिहार सरकार की राष्ट्र-भाषा परिषद ने सम्मान-पत्र के साथ पुरस्कृत किया
* तीस के पहले ही बीसों कलात्मक और बौद्धिक काव्यों के रचयिता
* विदेह प्रणयन के पूर्व इंगलैण्ड. हालैण्ड, बेलजियम, फ़ान्स, स्विट्जरलैण्ड, जर्मनी और इटली के साहित्यिक यात्री
  यह विदेह महाकाव्य हिन्दी की अक्षय साहित्य-सम्पत्ति

—प्रभाकर एम० ए०

प्रार्थना के फूल

देह के युग में 'विदेह' की रचना कर मैंने काल के हाथ में एक कमल रख दिया है, जिसकी पंखड़ियों पर अतीत के कुछ ओस हैं और आज की किरण। इसलिए मुझे विश्वास है कि मैंने विश्व-भारती के सम्मुख विचारों का कोई अपराध नहीं किया है। किन्तु इतना तो मानना पड़ेगा कि मेरी कल्पना ने हिमालय और गंगा से पर्याप्त बातें की हैं। यों, इस काव्य की समाप्ति के पूर्व ही मैंने यूरोप की अलका देख ली है। पानी निर्मल हो या नहीं, पर गंगा और नर्मदा के विस्तृत किनारों से टेम्स और राइन के किनारे स्वच्छ अवश्य हैं। 'विदेह' अतीत भारत का एक ऐसा चित्र है जो अन्तर्राष्ट्रीय कला-प्रदर्शनी में रखा जा सकता था। पर एक नवीन कलाकार के हाथ में विद्यापति की तूलिका मिली। इसलिए नवीनता ने युग के आदेश से प्राचीनता के दुर्ग-द्वार को खोल दिया है। जब-जब मैंने हिमालय की चोटियों को देखने की चेष्टा की, एशिया के विविध भाग से मानवता पुकार उठी। और, मैं 'विदेह' के प्राणों में ऐसा संगीत भरने लगा जो दूर-दूर तक सुना जा सके। किन्तु विमान पर उड़ने वाले राम को वायुयान पर कैसे उड़ा पाता ! सीता को आधुनिक साड़ी पहना कर काव्य प्रगतिशील नहीं हो सकता।

'विदेह' की सृष्टि व्यापक चरित्र की दृष्टि से हुई है। राजर्षि जनक की महिमा प्राचीन ग्रंथों में वर्णित है। फिर भी, युग और साहित्य के निर्देशानुसार मिथिला के विख्यात महामानव पर यह काव्य लिख कर मैंने कलात्मक आनन्द का अनुभव किया है। कहीं-कहीं कल्पना ने ऐसी भी क्रीड़ाएं की हैं जिनके इंगित से चांद के अर्ध भाग पर घटा घिर जाती है। इतिहास के माध्यम से 'विदेह' का मूल्यांकन करना साहित्यिक न्याय की मर्यादा को कम करना होगा। कला की निर्झरी अपनी गति के अनुसार ही धरती पर विचरती है।

क्या 'विदेह' एक महाकाव्य हो गया? इस सत्य-समाधान के लिए विश्वास को तर्क से स्वीकृति लेनी पड़ेगी। सम्भव है, आचार्यों की उदारता मेरे लिए प्रसन्नता के फूल बरसा दे और आलोचना की आंखों से रक्त के अश्रु भी ढुलक पड़ें ! पर इतना तो सच है कि 'विदेह' की मूर्ति साधारण

पत्थर की नहीं, संगमर्मर की है जिस पर धूप और चांदनी की प्रखर-स्निग्ध रोशनी पड़ी है। इसीलिए कहीं दिव्यता और कहीं सुकुमारता के दर्शन होते हैं। गुलाब की डाल में कांटों की कल्पना न करना भी प्राकृतिक सुन्दरता से दूर रहना है। शुभ्र चन्द्र-मुख पर काली भौंहें ही अच्छी लगती हैं! कला में इतनी निष्ठुरता नहीं कि कोमल कपोल के नैसर्गिक तिल को हटा कर सहज सौन्दर्य की शोभा मिटा दे।

'विदेह' के मुख से जो विचार व्यक्त हुए हैं, वे उपदेश नहीं, वीणा की वाणी है। नीर और क्षीर के संगम पर काव्य का हंस बार-बार डुबकियां लगा कर तैर रहा है। मिथिला में जन्म लेकर विदेह के प्रति मेरी आन्तरिक भक्ति भी प्रकट हुई है, जिसके लिए मैं सहर्ष दोषी भी ठहराया जा सकता हूँ। जिनेवा (स्विट्जरलैण्ड) के रमणीय कला-कुंज में एक साहित्यिक तरुणी ने मुझ से कहा था कि मुझे स्वर्ग की मिट्टी पर जन्म लेने का गौरव प्राप्त है। क्या पश्चिम की बोली की तरह मैं भी कह दूं कि जनक की ज्ञान-भूमि पर मेरी कल्पना का भी जन्म हुआ है! पर ऐसा कहना भारतीय प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं। मिथिला की सीता समस्त देश की सीता है। विदेह की व्यापकता सम्पूर्ण भारत में फैली हुई है।

इस काव्य के वन में विविध प्रकार के फूल और फल हैं। मेरे श्रम को सफलता तब प्राप्त होगी जब सभी विचार के पाठक इसकी पगडण्डियों पर विचरण कर सकेंगे। 'विदेह' मे सीता की चर्चा नहीं करना उमड़ी हुई घटा को धरती पर नहीं उतरने देने के समान प्रतीत होता। त्रुटियों के लिए क्षमा मांगना मिथिला की परम्परा का चारित्रिक संकेत है।

वसन्त पञ्चमी
१९५४

[signature]

राजा बहादुर श्री विश्वेश्वर सिंह जी
प्रधान संरक्षक: विदेह-यज्ञ

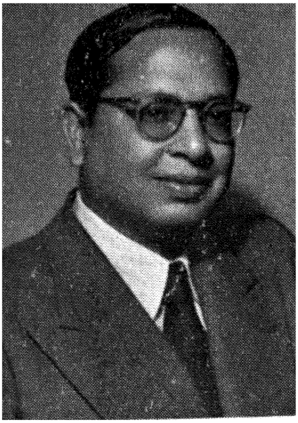

श्री केशरदेव चूड़ीवाल

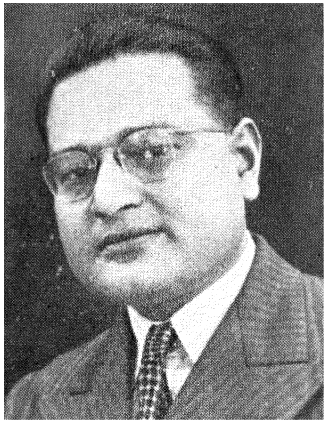

डा० श्री शीतल प्रसाद

संरक्षक: विदेह यज्ञ

क्रम

सर्ग-संकेत			पृष्ठ
प्रथम सर्ग	...	...	६
द्वितीय सर्ग	...	...	१६
तृतीय सर्ग	...	...	३७
चतुर्थ सर्ग	...	...	५७
पञ्चम सर्ग	...	...	८५
षष्ठ सर्ग	...	...	६६
सप्तम सर्ग	...	...	११३
अष्टम सर्ग	...	...	१२५
नवम सर्ग	...	...	१३६
दशम सर्ग	...	...	१६१
एकादश सर्ग	...	...	१८५
द्वादश सर्ग	...	...	२०३
त्रयोदश सर्ग	...	...	२२३
चतुर्दश सर्ग	...	...	२४१
पञ्चदश सर्ग	...	...	२५१
षोडश सर्ग	...	...	२७३
सप्तदश सर्ग	...	...	२६५
अष्टदश सर्ग	...	...	३०६-१६

विदेह

प्रथम सर्ग

उज्ज्वल हिमालय-साधना के धवल शिखरोत्कर्ष से
ओ महामानव, ज्वलित योगी, दार्शनिक
सम्राट्-भिक्षुक जनक हे ! उतरो यहाँ
साहित्य की धरती प्रथम लेकर हृदय की बाँसुरी
रस से भरी आमंत्रणा की रागिनी से कह रही--
राजर्षि ! अपने ज्ञान की चिर ज्योति दो संसार को
निज आत्म-बल-आलोक की किरणें मनुज-मन-प्राण पर
रख दो विशाल चरित्र हे !

गंगा-किनारे साधना की भारती करती तुम्हारी वन्दना—
मनुष्यत्व के ओ ग्रंथ ! खोलो पृष्ठ जीवन-कर्म के
शब्दावली दो सत्य की आराधना की बीन में
हिलकोर दो निज साँस की गति-सिन्धु को झकझोर कर
आषाढ़ की पहली घटा-सी नृत्य का उल्लास दो
ऋतुराज के प्रिय फूल-सा सुरभित सुविकसित हास दो !

तुम बँध सकोगे या नहीं संगीत की झंकार में
तुम मिल सकोगे क्या नहीं हे प्राण ! सातों तार में ?

इतिहास के आकाश में मैं व्यास की वीणा बजाने था गया
कुरु-क्षेत्र में जब मोह की बदली घिरी
बिजली गिरी जब प्रेम की,
अर्जुन अनल की छाँह में आँसू बहाने लग गया/

वह डर गया बन्धुत्व से जययुद्ध के प्रारम्भ में,
उस समय तब श्रीकृष्ण ने विभ्राट दर्शन-सत्य का
दीपक जलाया एक उठता-सा प्रलय-तूफान में !
दी ज्ञान-गीता विश्व को, पर प्रथम कुन्ती-पुत्र को
जिसमें उन्होंने कह दिया——हे वीर यह भी जान लो
सब जानते हैं जनक भी जो बात मैंने है कही !

तब आदि कवि के गीति-वन में मैं गया
जिस ओर मिथिला-रागिनी की चाँदनी थी छा रही
स्वर की सुरभि थी उपनिषद् को छू रही
औ,
वेद की कन्या अकेली गा रही थी——
निज पुराणों के विपिन की वीथिका पर हो खड़ी
सम्मुख पहाड़ों से
सुरों की निर्झरी थी झर रही स्वच्छन्द मन्द प्रवाह मे !
यह देखते ही देखते,
वेदान्त की पुत्री उषा के संग उतरी सत्य पर
साकार उस सौन्दर्य को मैंने पुकारा दृष्टि के संगीत से !

सीता तुम्हारी साधना की ज्योति है हे देवता !
सीता नहीं है शक्ति क्या उस राम की ?
यदि शक्ति है,
तो जनक भी हैं राम के व्यक्तित्व के स्रष्टा प्रबल
जिनकी किरण की सुरभि अब भी विश्व में है फैलती !
साकेत है यदि सत्य तो सौन्दर्य मिथिला-भूमि है ।

शिव स्वयं हो तुम हे जनक, साहित्य में
संगम तुम्हीं हो न्याय प्रेमोत्सर्ग के !

प्रिय पूर्व से जो रश्मि-रंजित ज्योति फूटी विश्व में
जिसमें तुम्हारी साधना का कर्मयोगी सत्य सौरभ भर रहा
वह सृष्टि का संगीत है उस आदि जीवन-काल का
जिसके अमिट प्रतिविम्ब पर मनुष्यत्व बढ़ता जा रहा
ले पूर्णता की कामना इस भूमि पर !

नित नव लहर उठती समस्या की यहाँ
पर बढ़ रहा है मनुज अपनी राह पर
ले बुद्धि का दीपक हृदय के हाथ में
ले ज्ञान की किरणें तपित शुद्धात्म से ?
अनुभूतियों के मर्म छूते कर्म को
सम्पूर्ण पृथ्वी ही प्रतीक्षा कर रही—
मानव जगत की एकता में व्याप्त हो
हो न्याय समता पूर्ण इस संसार में
हों सभी बन्धन-मुक्त अन्तर-ज्योति से !

ओ जनक की मिट्टी ! तुम्हारे योग के औ' भोग के
संगीत उठते नित्य प्राची की सुनहली बीन से !
आलोक-शोभित नीलिमा में
आत्म के दोनों परों को खोल कर
है उड़ रहा आशा-कपोत अतीत का
जो कह रहा है मनुज से—
"प्रिय शान्ति ढूँढो सत्य से

शुचि सत्य ढूँढो न्याय से
औ' न्याय ढूँढो कर्म से,
तब स्वर्ग की प्रिय कल्पना साकार होगी भूमि पर
सम्पूर्ण अवनी मुक्त होगी मनुज के तम-भार से !"

विध्वंस के तूफान जब उठते प्रलोभ-प्रमाद से
उड्डीन शुभ्र कपोत की छाया प्रतीची देखती
जब वह लहर-पथ पार करती है कभी।

वह उड़ रहा है, और उड़ता जा रहा है
वह उड़ेगा लक्ष्य तक आकाश में
केवल यही कहता हुआ फिर—
शान्ति कहने से नहीं मिलती कभी
रे, शान्ति मिलती सत्य-शोभित कर्म से
इसके लिए तो क्रान्ति का संघर्ष ही अनिवार्य है !
वह मनुज योगी भी नहीं
जो शान्ति का इच्छुक नहीं—भिक्षुक नहीं
सम-शान्ति से ही आत्म का आनन्द मिलता सृष्टि में
कर्तव्य की बाँहें पकड़ना चाहती उस दीप को
जिसकी सुविकसित ज्योति में
है शान्ति-शीतलता छुपी !
मनुष्यत्व की माता पिलाती दूध मानव-वृन्द को
आनन्द के आँसू लिए विश्राम जीवन-योग में !

अति स्वार्थ की सुख-कामना
जब तक रहेगी आदमी की बुद्धि में

तब तक मनुजता पूर्ण होगी ही नहीं संसार में !
"सम्पूर्ण पृथ्वी एक गृह है मनुज का"
——जब तक न यह संगीत गूंजेगा हृदय के सत्य में
मनुष्यत्व का सूरज न उग सकता कभी,
जन-साम्य का शशि खिल नहीं सकता जगत के प्राण में
हा !
शक्तिशाली मनुज का ही लोभ जीवन-न्याय पर
है तिमिर रखता आ रहा
औ' दीनता, असमर्थता के पाप बढ़ते जा रहें हैं **विश्व में**
फिर शान्ति हो कैसे यहाँ ?
पर क्रान्ति के दो पंख भी अकुला रहे
अंगार की आँधी कहीं से उठ रही
औ त्याग की किरणें धरा पर आ रहीं !

हे विश्व-मानव !
सत्य पर हो भारती मेरी खड़ी
झंकार के जो चित्र बनते जा रहे
मैं कर रहा संग्रह तुम्हारे लिए ही इस भूमि पर।
अब स्नेह-शोभित न्याय के दृग खोल दो
देखो वहाँ——

मनुज के सिंहासन पर बैठ
कौन करता है योग महान
व्योम को भी साँसों में बाँध
फूँकता है मिट्टी में प्राण !

हिमालय की छाया में मौन
तपस्वी कौन जलाता दीप
कर रहा आलोकित संसार
साधना से, वह कौन महीप

धरा पर लिए कर्ममय सत्य
गगन का लिये ज्योति-विस्तार
लिये मनु का विकसित अस्तित्व
सृजन का कौन खोलता द्वार

देह लेकर भी जो कि विदेह
सूक्ष्म है जो लेकर भी स्थूल
शून्य है जिसका जीवन-सिन्धु
ध्वनित हैं उसके दोनों कूल

सुरभि में जो कि सदा है लीन
विश्व के शूल-फूल हैं मौन
सहज सुख-दुख से जो अति दूर
महात्मा योगी हे, तुम कौन

तुम्हारी कमल-कल्पना खिली
प्रेम-जल पर जब साधन-सूर्य
लुटाने लगा विभा की धूल
बजाने लगा किरण का तूर्य

फैलने लगा अरुण संगीत
तिमिर-विष को पीकर चुपचाप
मिली मिट्टी को अमृतालोक
हुआ जग में शिव-सृजनालाप

देवता पीते सुधा प्रशान्त
मनुज पी सकता गरल-समुद्र
स्वर्ग को रही भूमि ललकार
मनुज भी बन सकता है रुद्र

मनुजता के कर में वह एक
तुम्हारा दीपक है जल रहा
नित्य ढलते रहते रवि-चन्द्र
तुम्हारा सूर्य नहीं ढल रहा !

तुम्हारे उदयाचल की किरण
इसी मिट्टी के चरण अनन्त
तपस्या की शोभा से दीप्त
मनुजता के सम्पूर्ण दिगन्त

योग में भोग, भोग में योग
कठिन कितना है मानव-कर्म
जानते वाल्मीकि औ' व्यास
तुम्हारे तप के अक्षय मर्म

सिन्धु को बिन्दु, बिन्दु को सिन्धु
समझने वाले हो तुम कौन
स्वयं बन कर मिट्टी की ज्योति
बिखरने वाले हो तुम कौन

मनुज के आत्म-ज्ञान की शक्ति
सृष्टि का सत्य स्वयं साकार
वही है मानवता-संगीत
आत्म से उठती जो झंकार

कठिनता में जो कोमल वेणु
बज रही मन्द-मन्द उस पार
वहीं प्रतिविम्ब तुम्हारा दिव्य
जहाँ धरती की अमर पुकार

द्वार जो खुला हुआ है वहाँ
खोलने वाले हो तुम कौन
मृत्यु के गरल-पात्र में अमृत
घोलने वाले हो तुम कौन

लिये सिर पर मिट्टी का भार
ज्ञान में भर कर कर्म-पुकार
योग में कर जीवन को व्याप्त
आ रही है किसकी झंकार

मरण को लिये मरण से दूर
कौन तुम जीवन-मय संगीत
दिव्य इतिहास-क्षितिज पर खड़े
धरा को देते ज्योति अतीत

नीति को कर्मासन पर बिठा
कर रहा कौन आत्म-सन्धान
मनुज के सिंहासन पर बैठ
कौन तुम करते योग महान् !

द्वितीय सर्ग

श्रावण-सन्ध्या का सूर्य हो रहा उधर अस्त
झंकार उठ रही एक अनेकानेक बिजलियों के स्वर से
पूरब दिशि में
घन के समुद्र पर सोया है सम्पूर्ण गगन
धरती की अभिलाषा वर्षा से भींग रही
प्रस्तर-निर्मित शुभ्रातिशुभ्र प्रासाद-द्वार पर
सजल यूथिका-लता लहलहा रही सुरभि से हो प्रमत्त,

सम्मुख ही किंचित दूर आम्र की डाली पर
कूकती हुई कोयल से भी कुछ निकट पपीहा बोल रहा
दक्षिण दिशि में गंधर्व देश का एक वृद्धतम कलाकार
वीणा के केवल एक तार पर
मेघों की आत्मा का करता है आवाहन त्रिण-त्रिण-त्रिण !
नयनों के दो आकाश प्यास को बुझा रहे
प्राणों के हर्षोच्छ्वास छू रहे सृष्टि-वेदना की छाया
जिसकी माया में मानव का सम्पूर्ण सत्य
हो जाता है चिन्ता-विमुक्त ।

इतने में विद्युत गिरी एक, भीषण कोलाहल हुआ,
धरा भी काँप उठी
वह कलाकार अति तुमुल घोष से हुआ स्तब्ध
वीणा का झंकृत तार टूट कर बिखर गया

जिसको विदेह ने देख लिया नयनों में एक हँसी लेकर
वह वृद्ध सो गया वीणा पर उस क्षण में ही !

सहसा विदेह नें दो तारों को हिला दिया
उसके पहले स्वर से जीवन को मिला दिया
वह उठा गीत को छूता-सा
संगीत मिल गया सभी सुरों की सरिता में
घनघोर वृष्टि-वन से उड़ती-सी
एक रागिनी-विहगी साँसों मे आई

वह गीतकार मध्यम अलाप से खोल रहा अन्तरा-द्वार
साधना-कक्ष से निकल रही आलोक-किरण
आत्मोदय की तन्मयता का उत्सर्ग जहाँ कर रहा प्राप्त
केन्द्रित आत्मा की चरम कला
जो केवल उज्वल प्रभा-सुरभि
जिसमें शोभित सम्पूर्ण सत्य
आनन्द स्वयं साकार जहाँ !
इससे भी ऊपर बहुत दूर-आँखों की पाँखें
थक कर जहाँ न उड़ पातीं
उस सूक्ष्म मुक्ति के पंथी हैं मानव विदेह
जिनके जीवन का प्रतिपल ही साधना-स्नात
प्रत्येक साँस ही योगपूर्ण
जो स्वयं विभा-संगीत-सिन्धु विभ्राट शान्त !

ज्वर-ग्रसित जनक-पत्नी कराहती शय्या पर अन्तःपुर में
काँपती अकेली दीप-शिखा चंचल समीर के झोंके से

निशि-गंधा की मोहक सुगन्ध-बाँसुरी बज रही मन्द-मन्द
बज उठते हैं घन के मृदंग द्रिम-द्रिम-द्रिम-द्रिम
रानी के सम्मुख बैठा है अति वृद्ध वैद्य
नाड़ी को देख रहा रह-रह
कफ़ और पित्त का है प्रकोप
घबराती है रोगिनी सुनयना मन ही मन ज्वर-ताप लिए
तन-विविध अंग रुज-स्वेद-पूर्ण
जल रहे नयन,
मस्तक में होती है पीड़ा
नासिका-छिद्र से निकल रही उष्णता-उर्मि
वस्त्रों को देती कभी हटा
दासी पानी में औषधि मिला उसे देती
गिर गया अचानक रजत-पात्र।
सेविका पुनः देती औषधि
वातायन के सम्मुख विद्युत करती क्रीड़ा !

बाहर विदेह कुछ देख रहे
श्रावण का जल-संगीत झर रहा धरती पर
श्यामलता का साम्राज्य व्याप्त है सभी ओर
भींगती हुई उस अन्धकार में एक कृषक-पत्नी आई
बोली—"राजन् ! मेरे पति ज्वर से काँप रहे
बढ़ गया रोग धीरे-धीरे
साहस लेकर मैं आई हूँ इस जगह स्वयं
क्या राज-वैद्य मेरे गृह तक चल सकते हैं ?"
इतना ही कह वह काँप उठी

भींगी निर्धनता सिहर गई तंद्रिल विदेह की छाया में
तन्मयता का विश्रान्त स्वप्न हो गया भंग
मानवता का दयनीय प्रश्न माँगने लगा दारुण उत्तर !

वह कलाकार जो बजा रहा था बीन मेघ की माया में
धीरे-धीरे सो गया स्वप्न की छाया में !
देखा विदेह ने रानी को भीतर जाकर
वह सोई है,
पर कभी-कभी कुछ बोल रही ज्वर की तेजी से रुक-रुक कर
वह वृद्ध वैद्य हो गया खड़ा
आज्ञा पाकर बाहर निकला
औ' इसी बीच सारथी गया रथ को लाने ज्योंही प्रहरी ने
कहा नृपति-आदेश उसे ।

युवती के सम्मुख राज्य-सेविका आई नूतन वस्त्र लिये
कम्पित शरीर को ढँक कर भी वह काँप रही
मन की आकुलता पति की शय्या के समीप ही बैठी है
विह्वलता की दोनों बाहें चिन्ता के चरणों को छूती
आँखों से बिजली निकल रही है वार-बार
प्रज्वलित वक्ष में कोलाहल, प्राणों के कम्पन मे हलचल
कितनी अवाक कातर नारी
जिसके सम्मुख जीवन-दुख का भीषण ज्वालामुख फूट रहा
विकराल मृत्यु की छाया में वह विकल खड़ी
रे कहीं साँस हो जाय शेष, तो क्या होगा !
जीवन भर अबला की आहें धर्माग्नि कुण्ड को देखेगी
पीड़ा के कारागृह में वह बन्दिनि होगी

अथवा सपने की स्वर्ण चिता पर सो जायेगी प्रेममयी !

तरुणा ने देखा
वर्षा में ही विद्युत गति से रथ आया
उसके चिन्तित प्राणों का जीवन मुसकाया
अन्तर में जैसे ज्वार उठ गया एक बार
देखा विदेह ने उसके दृग को बार-बार
आँसू के हर्षित चार बून्द भर कर कपोल पर ढुलक पड़े
वह राज वैद्य के संग चढ़ी रथ पर सहसा ।

जल-मग्न राज-पथ पर निर्भय
सारथी अश्व को लगा बढ़ाने मन्द-मन्द
काले धुँघराले मेघ गरजते हैं रह-रह
उठ रहे समीरण के झोंके
तमयुक्त दिशाओं में बिजली विचरण करती !

जब तक न वैद्य आगया यहाँ
तब तक विदेह मानव के प्रश्नों की लहरों पर खड़े रहे
सोचते रहे
जग-विषम समस्याओं का क्या है समाधान
नृप की केन्द्रित सम्पत्ति-शक्ति——
जनगण-समता, अनुरक्ति-हीन
या श्रद्धा में डूबा सत्योज्वल भाव-सूर्य ?
मानव-जीवन भिन्नतापूर्ण भू पर निर्मित
——यह न्याय या कि अन्याय ?
हाय, इसका उपाय असहाय दीनता का विनाश
दीनता मनुजता का लज्जित उपहास——

ह्रास, मानव के सारे कर्मों का !
झंझापूरित घनघोर वृष्टि में ग्राम-वधू
भीगती हुई दुख में आई मेरे सम्मुख !
केवल इसलिये कि कुशल चिकित्सक राजभवन को ही सुलभ्य
साधारण जन तो कठिन रोग से मुक्त नहीं
यह रात आज कितनी भीषण भयपूर्ण तिमिर से आच्छादित
जैसे दरिद्रता का अन्तर---विस्फोट हो रहा अम्बर में
करुणा-ताण्डव-सम तड़ित-चरण संघर्ष-स्नात !
क्या वह दिन भी आयेगा आकुल धरती पर
जिस दिन मानव का सत्य बिखर जायेगा कोने-कोने तक
हरि-प्रिया भाग्य-लक्ष्मी बाँटेगी साम्य-सुधा
मनु-सूर्य समस्त मनुजता पर देगा वैभव का सम-प्रकाश
बन्धन, विभेद के सभी स्वप्न जल जायेंगे
है मनुज अभी धर्मानुरक्त
इसलिए नृपति की भक्ति अभी जीवित भू पर
लेकिन जिस दिन चेतना सत्य की जागेगी
मानव अपना जिस दिन अस्तित्व सँभालेगा
उस दिन कोई भी व्यक्ति नहीं भूपति होगा
मानवता का सम्राट मुक्ति देगा सब को !

मैं हूँ मनुष्य
यह राजमहल सचमुच सबका
वैभव के गिरि भी मेरे नहीं सभी के हैं
धरती सबकी, नभ भी सबका
ये चाँद, सितारे, मेघ, सूर्य मानव के हैं, मानव के हैं।

इनके अधिकारी व्यक्ति नहीं जनगण समस्त
मनु ने मानव को बना दिया,
पर मानव अब तक बना नहीं, बन रहा पूर्णता के गृह में
जिस दिन मानव-संसार मनुजता के गुण से शोभित होगा
उस दिन धरती सम्पूर्ण ज्ञान से चमक उठेगी
यहाँ, वहाँ, सर्वत्र किन्तु,
मानव के मन का तिमिर मुक्त होगा कि नहीं
तृष्णा का स्वार्थ जलेगा क्या जीवन-वन में
मनु की समस्त किरणें क्या होगीं भू पर एकाकार नहीं ?
यह निखिल प्रकृति अनुकूल या कि प्रतिकूल अखंड मनुजता के?

यह अर्ध रात
वर्षा ऐसी जैसे सवेग झरता अम्बर से जल-प्रपात
संगीत भयंकर गूँज रहा झंझानिल में
देखा विदेह ने रथ को रुकते मन्द मन्द
धीरे धीरे आ रहा वैद्य
गंभीर भाव मुखमंडल पर रो रहा भृकुटि के आस पास
पूछा विदेह ने कुशल-वृत्त,
वह मौन रहा
रुक कर बोला—हो गई मृत्यु उस रोगी की/
यदि संध्या तक मैं वहाँ पहुँच पाता तो निश्चय बच जाता
हिचकियाँ आ रही थीं तब मैं पहुँचा गृह पर
पड़ सका रसायन का प्रभाव उस समय नहीं
मैं क्या करता ?
दर्शन का एक निपुण ज्ञाता मर गया नृपति !
गत वर्ष गया था काशी में शास्त्रार्थ हेतु

पाया था गौरव वहां ज्ञानियों के समूह में प्रथम बार
उसकी विदुषी पत्नी काशी की विजय-कली है हे राजन् !
आभा है उसका नाम——
निरीश्वरवादी है उसका विचार
विद्वत्ता चमकती है उसके प्रिय नेत्रों में
वह चीख रही है मृत पति के सम्मुख तब से
केवल सत्रह वर्षों की कोमल युवती है वह गर्भवती
उसके जीवन पर वज्र गिर गया है नरेश !
ईश्वर का निर्मम न्याय हाय, वह सह न सकेगी जीवन में !

चुप है विदेह के प्राणों का मनुष्यत्व विकल
सोचता अकेला बार बार
मानव-समाज की रचना से ईश्वर दोषी हो रहे यहाँ
निर्झर की गति पाषाण कहाँ तक रोकेगा
पुरुषाधिकार की सृष्टि हो रही शक्तिपूर्ण
नारी की मूक वेदना करती गरल-पान ।

चढ़ गये जनक रथ पर द्रुत ही
वह वैद्यराज जा रहा सुनयना के समीप धीरे-धीरे
मेघों के गर्जन से गर्जित है दिगदिगन्त
सारथी अश्व को रोक रहा ऋषि याज्ञवल्क्य आश्रम-पथ पर।

आभा के गृह के सम्मुख रथ रुक गया पुनः
देखा दोनों ने श्रीविहीन मूर्च्छित विधवा को एक बार
शव के सुवक्ष पर दोनों बाँहें फैली हैं
बिखरे हैं काले खुले बाल

मिट्टी के दो दीपक जलते हैं मन्द-मन्द
वर्षा का हाहाकार हो रहा क्षीण शांत !

बन्धनमय तम-जीवन के कारागृह में बंदित है नारी
कोमल छाती पर काल-वज्र है गिरा हुआ
वह काल कौन ?
मानव की सीमित कटु प्रबुद्धि का व्यंग्य सृजन
जिसकी छाया में जन गण का दुर्बल अस्तित्व काँपता है
आदर्श सत्य की शोभा पर फूँकता सदा आदेश-चिता
अध्यात्म स्वयं बन जाता है उपहास अहंकारी बल से
औ' ज्ञान झुलस जाता है, जब
जलने लगता है हृदय सत्य की ज्वाला से ।

आभा ने रोती आँखों से देखा मुड़कर करुणा में अग्नि-समुद्र लिये
सम्पूर्ण मूक वेदना कह रही मन ही मन--
मिथ्या है मानव-जीवन का बन्धन-विधान
मिथ्या है आदर्शों की स्वार्थ भरी रचना
निर्धनता का स्रष्टा मानव है धरती का
सम्पूर्ण पाप का भागी है केवल मनुष्य
यह प्रकृति शुद्ध है--परम शुद्ध /
पर निखिल सृष्टि-सम्राट जिसे कहते ईश्वर
कल्पना एक केवल स्वार्थों की भाषा की
भययुक्त अलक्षित वह समुद्र ही तो केवल
जिसकी लहरों पर पुण्य कर रहा पाप और कुछ नहीं यहाँ
ईश्वर का निर्माता केवल है चतुर मनुज
जो आडम्बर का जाल यहाँ फैलाता है

कहता है ज्ञान-शिखर पर चढ़——
है भाग्य मनुज के कर्मों का जीवन-प्रकाश
जिसका निर्माता अलख, अगोचर, सीमाहीन, अमर ईश्वर !

जलदाकुल व्योम-प्रभात अरुण के रथ पर ज्योति लिये आता
ऋषि याज्ञवल्क्य के साथ कर रहे जनक बात
आदर्श और प्रिय न्याय कर रहे ज्वलित तर्क
आभा मन ही मन सुनती है अन्तर पुकार——
कोई कहता है मनु-विधान आदर्शपूर्ण है जीवन का
कोई कहता है मनु से मानव की विशाल परिभाषा है
जो बन-बन कर भी संशोधित होती है समय प्रवाहों में
मानव क्या एक सरोवर है जो रखता सीमित ज्ञान नीर ?
मानव अनन्त अभिलाषाओं का सूक्ष्म सत्य
मानव है ज्ञान समुद्र स्वयं
जिसमें असंख्य लहरें उठती हैं नित नवीन
नूतन विचार, मौलिक न्यायों पर आधारित मानव जीवन
मानव है वह जो नहीं रुके
मानव है वह जो नही झुके गति हीन बन्धनों के आगे !

पौ के फटते ही आभा ने निज मृत पति के मुख को देखा
उसके सुहाग की लाली को चाटने लगा मनुष्यत्व सर्प
फैलने लगा दृग के सम्मुख गरलान्धकार
अन्तर मूर्च्छित हो गया प्राण से हीन रूप को देख-देख
आत्मा इंगित करती शरीर से दूर
सत्य की एक किरण हँस रही जहाँ
जिसके प्रकाश में ध्यान मग्न हैं प्रिय विदेह !

धीरे धीरे लग रही भीड
शत-शत लोचन आ रहे स्नेह श्रद्धा लेकर
औ' इसी बीच अन्तर को, चिन्ता उगल रही है एक स्वप्न--
सुधि के मरघट पर जलती है एकान्त चिता
पुत्रियाँ मृत्यु की नाच रही हैं सभी ओर
उग रहा प्रलय का तिमिर-सूर्य
बज रहे धर्म के वाद्यवृन्द
आदेशासन पर बैठा है प्राचीन पुरुष
जो कहता अबला से--प्रस्तुत है अग्नि-सेज
सोजा, सोजा मनु का आदर्श बुलाता है !"

निर्बल नारी जिसके शरीर पर सामाजिक
चिनगारी बरस रही कब से
शय्या पर रखती प्रथम चरण
आलिंगन करना चाह रहा आदर्श तुरत
पर कौन मौन कह रहा--देवि !
तुम अपने प्राणों को देखो
उस पार उदर के उदयाचल पर
जहाँ हृदय का भोर हो रहा है चुपके
मनु का नवीन युग-पुत्र जन्म का पहन रहा आलोक-वस्त्र
वह शीघ्र करेगा किरण-दान
गायेगा निश्चय मुक्ति-गान
विश्वास करो हे देवि !
नम्र मानवता के निर्मित होंगे अनुपम विधान
माँ ! निज पुत्रों के लिये रहो जीवित जग में
उन्मुक्त मनुजता के प्रभात से फूटेगा सम-भाग्य-कमल ।

टूटेगा जीवन का बन्धन
फैलेगा भू पर जय-वितान !

बीते आभा के तीन वर्ष
अद्वैतवादिनी परमद्वैत-पथ से चिन्तन के पृष्ठ लिये
शंका की आँधी में निकली
मातृत्व-रूप को कर शोभित शिशु के शशि से
जल रही बुद्धि की ज्वाला विप्लव के गृह में
झर रही एक निर्झरिणी भावों के गिरि से अन्तरतर पर
कर रहा न्याय विस्फोट,
चोट लग रही सत्य के जलते प्रश्नों के पग में
पथ में कंटक-रोड़े कितने
मानव-समाज के रंगमंच पर
अन्ध तिमिर की एक यवनिका लटक रही
जिसके पीछे अध्यात्म एक उपहास-मात्र
परमात्म एक सुनसान-सिद्धि
जो सृष्टि कर रही स्वार्थ भरी प्रभुता-सत्ता-साम्राज्य-विजय
हो रही मनुजता छिन्न-भिन्न वर्णों की कलुषित छाया में !
उन पंच तत्व के मिश्रण से मानव का ओझल रूप बना
इस निखिल प्रकृति-संघर्षों से मन-प्राण-ज्ञान की हुई प्रगति
इस प्रगति और जीवन-विकास का क्रम भी कभी रुकेगा क्या
वर्णों का यह संगठन कर्म के लिये हुआ
जिसको श्रद्धा ने विषम परिस्थिति की मिट्टी पर मान लिया
पर वर्ण प्रतिध्वनि जन्मजात
ध्वनि-बद्ध ? हाय, यह न्याय या कि अन्याय ?

भला यह श्रेष्ठ और लघु की कल्पना
मनुजता का क्या व्यंग्य नहीं ?
आध्यात्मिक धरती का है यह कुत्सित प्रयोग
—पूछती जनक से प्रिय आभा, भौतिक विचारधारिणि नारी

उत्तर मिलता—
आत्मा केवल अनुभूति ज्ञान का केन्द्रस्थल
जो है अदृश्य औ' स्पर्श हीन
मानव की अन्तर्मुखी चेतना ही छू सकती जिसे यहाँ
जब जीवन की योगानुरक्त साँसें
हो जातीं किरणमयी उन्मुक्त सूक्ष्म
तब ज्योति-ब्रह्म से मिलती है
प्रज्वलित आत्म की सत्य-शिखा
उत्तुंग हिमालय की मिट्टी आत्मानुरक्त
है उषा काल से ही, युग से
मैं जान रहा, मैं मान रहा
यह कठिन योग-साधना आत्म-विज्ञान-सत्य
भौतिकता के लोचन में कैसे हो सकता परमात्म-प्राप्य ?
इसलिए योग है व्यक्तिपूर्ण
पर है समष्टि-हित सत्कर्मों के मर्म लिये !

हे देवि ! धरा के लिये किन्तु भौतिकता तो अनिवार्य सत्य
मानव-ममता का न्याय-घोष
कर्मानुरक्त सभ्यता-शक्ति
पर धर्म, नहीं मिथ्या, कर्मों का मर्म-सिन्धु
यह एक शब्द भू की विशालता का कलरव

मानव-विचार-संचय केवल
जीवन-ध्वनि की प्रति-ध्वनि सीमित
आयेगा देवि ! कभी ऐसा युग धरती पर
पर्वत, सरिता, सागर को लांघेंगे मनुष्य के सम विचार
होगा सर्वोदय का प्रभात
फूटेगा समता-कमल मनुजता-गंध पूर्ण
पर बिना आत्म-अन्वेषण के होगा क्या मानव का विकास ?
बाहरी सभ्यता ढूँढ सकेगी ज्योति-शान्ति ?
मानव, शरीर की भूख-प्यास से नहीं पूर्ण
अन्तर-प्रकाश तो मानव का व्यक्तित्व दिव्य !

देखा विदेह ने इतने में दो मानव को
संध्या की धूमिल छाया में
दोनों के स्तर थे भिन्न-भिन्न
वस्त्रालंकृत था एक
औ' दूसरा भृत्य-सा मन्द वेश
बोले विदेह अबला आभा से हो गंभीर--
देखो आर्ये ! भौतिकता का शृङ्गार जहाँ पर शोभित है
उसके जीवन की निर्मलता है जली हुई
पर वह मनुष्य जो दीन-वस्त्र से आवृत्त है
उसके प्राणों का तेज सत्य से है पवित्र !
आभा क्षण भर तो मौन रही
फिर बोल उठी--कैसे विदेह ?
मैं आत्म दृष्टि से देख रहा--वे बोल उठे !

उस दिन से आभा पूछ सकी कुछ नहीं पुनः

प्रश्नों के उत्तर स्वयं लगी देने कठोरता के पथ पर
पर एक प्रश्न वह जलता सा मंगल बन्धन विच्छेद पूर्ण--
कहता है सबसे--करो न्याय मानवता का !
जिसको सुन कर देखते जनक ऋषि याज्ञवल्क्य की आँखों को।
जिनमें आँसू का एक बून्द भी नहीं दिखाई पड़ता है !

तृतीय सर्ग

हेमन्त-यामिनी-श्रान्त चन्द्र हो रहा अस्त धीरे-धीरे
अति मन्द मन्द स्वच्छन्द पवन को देख रहा है अन्धकार
उदयाचल पर ऊषा की वाणी बिखर रही आनन्दमयी
उड़ती कुहेलिका-घटा प्रात के पुण्य लिए
मर्मरित आम्र वन में खग कुल चहचहा रहा
भैरवी विचरती राज भवन के आस पास
वेदान्त सत्य संगीत लिए
उपनिषद मंत्र शत शत गुंजित
तंद्रिल जन गण मन के स्वर पर
ऋषियों के वंदन ब्रह्मगान आश्रम समीप सर्वत्र व्याप्त !

अनहद अशेष संगीत सुधा रस को पीते--
आ रहे जनक एकाकी उतर की दिशि से
भ्रमणोपरान्त चिंतक-गति से
आ रहीं ग्राम बालाएँ उनके संग संग
ले कटे नार के बोझ स्वस्थ सुन्दर सिर पर
उज्ज्वल कुहेलिका के प्राणों में अमिय अरुणिमा रही खेल ।

रुक गए जनक,
देखते एक मिट्टी का घर जो स्वयं एक चित्रालय है
उद्यानों के सम्मुख प्रस्तर की तीन मृगी चर रही दूब

ग्रा' एक व्याघ्र करुणा का पारावार लिय
निज नयनों में देखता उन्हें
कहते विदेह बालाग्रों से—"देखो मृदुले !
मानव की विकसित कला साम्य का इंगित करती विनय पूर्ण
समता मनुष्यता की शोभा है धरती पर !"
सबसे छोटी बालिका बोझ को पटक देखने गई उसे
देखती रही चुपचाप दृगों में तन्मयता की ज्योति लिये !

ग्राई वापस।
मिथिलापति ने उसके बोझे को उठा दिया
चलते चलते वह बोल उठी "हे नृपति श्रेष्ठ !
सुनती हूँ कल सैकड़ों दार्शनिक ग्रायेंगे पाञ्चाल ग्रौर कुरु देशों से
दर्शन-चर्चा का महा यज्ञ होगा राजन्
मैं भी ग्राऊँगी निज माता के संग वहाँ
मेरी माता भी तो त्रिवेदिनी है नरेश !"
ग्रति प्रेम भरे स्वर से विदेह ने कहा उसे—
"ग्राना, ग्रवश्य ग्राना बाले ?
सुनते ही यह सब उछल पड़ी
ग्रादेश ग्रौर ग्राग्रह के प्रेमिल संगम पर।

ग्रा रहे जनक ग्रपने पथ पर
जा रही बालिका बोझ लिये
पगदण्डी पर ग्राशाग्रों में कर्त्तव्य लिये
मिट रही कुहा की उजियाली
नभ की नीलिमा प्रशान्त सिन्धु में खिला ज्योति-शतदल प्रफुल्ल
खग भ्रमर कर्म के सुरभि पान के लिये उड़े परिवार संग

पहुँचे विदेह निज अतिथि कुटी में हो प्रसन्न ।
ऋषि याज्ञवल्क्य करते अभ्यागत से बातें
उनकी दोनों पत्नियाँ सुनयना रानी के सँग विचर रहीं
निज सेवा के हित आग्रह करती हैं सबसे
मैत्रेयी सबसे अधिक बोलती है खुल कर
निज आत्म सिद्धि की भाषा से
विदुषी कात्यायनि भाव भरी श्रद्धा से देख रही सबको
औ' राज पुरोहित शतानन्द करते सबका इच्छित प्रबन्ध
ज्ञानी अमात्य के संग संग ।

आए हैं अश्वल, आर्तभाग, आरुणि, उद्दालक, चाक्रायन--
उषस्तका, कहोल, महा गार्गी, शाकल्य, भुज्यु लाह्यायनि भी
दार्शनिकता के अध्यात्म सूर्य झाँकते सभी के नेत्रों से
पाण्डित्य चमकता है सबके मुखमंडल पर
साधना-तिलक सबके ललाट पर दीप्ति लिये अति ज्योतिर्मय
संयम के मानव विद्या तप से औ' विनम्रता से बोझिल
कितने प्रशान्त
भगवती भारती बजा रही है ज्ञान बीन अन्तरतर मे
कितने प्रसन्न हो रहे जनक सबके सम्मुख यह कौन कहे
कितना विशाल व्यक्तित्व सिन्धु राजेन्द्र जनक के जीवन का–
ज्योतिर्प्रवाह पर कौन बहे !

कहते आरुणि चाक्रायन से--
हे तात ! जनक को देखो तो
भिक्षुक हैं या सम्राट् या कि हैं संन्यासी
मृग चर्मावृत ज्ञानी मानव परमात्म शक्ति में सदा लीन

जिनके संयम की सुरभि फ़ैलती सभी ओर
जो अहंकार से दूर, प्रेम के प्राणों से भी अधिक निकट
वासना और इच्छा की लिये समाधि
कर्म से पूर्ण मनुजता के भू पर
ऊपर-ऊपर रहने वाला मानव-शतदल कितना सुरभित
नयनों की प्रेमिल दृष्टि सृष्टि से दूर
आत्म की किरण वृष्टि में ध्यानाश्रित
इस राज भवन में तब तो रहते याज्ञवल्क्य
रहती उनकी पत्नी मैत्रेयी औ' कात्यायनि भी युग से
कल होगी जो दर्शन-चिन्तन की सभा
नहीं कुछ पता कि क्या उद्देश्य चरम
क्या विजय पराजय का अन्वेषण ही विदेह का नग्न लक्ष्य ?
बोले चाक्रायन——समय बतायेगा कल ही
उत्सुकता की निर्मलता को क्यों हम शंका से करें विकल
मिथिला में हम तीर्थाटन के हित आये हैं
विद्या की यह निर्मला भूमि तो है नमस्य !

निश्चित वेला में आमंत्रित दार्शनिकवृन्द
आये सहर्ष मिथिला के सभा-भवन में अनुशासित पथ से धीरे धीरे
निर्देशित आसन पर सबके सब बैठ गये
तब तक सिंहासन के सम्मुख विनयानुकूल नृप खड़े रहे
नेत्रों में सम सम्मान लिये ।

भारती पुत्र को नीति पुत्र ने किया स्वयं करबद्ध नमन
पुष्पों की वर्षा हुई अतिथि के मस्तक पर
फिर शंखध्वनि से गूँज उठा प्रासाद भव्य

सबका परिचय दे रहे सचिव
सुनते सहस्र दर्शक सशान्ति उत्सुकता के नवद्वार खोल
सबसे पहले वन्दना हुई वेदानुकूल वाणी की झंकृत वीणा पर
औ' पुनः एक स्वागत संगीत हुआ नूतन
फिर पंच शंख से हुआ एक सम्मिलित घोष !

ध्वनि की समाप्ति के बाद जनक ने कहा नम्रता के स्वर से—
हे अतिथि, सभासद, प्रजावृन्द !
मैं स्वागत करता हूँ सबका श्रद्धा के कुसुमित भावों से
यह आर्यावर्त महान साधना औ' चरित्र का महादेश है—
युग युग से
साधना ज्ञान से मानव ने पाई है अति सूक्ष्मानुभूति
अन्तर-नेत्रों से देख रहा हूँ साधक को द्विरूप पूर्ण
तप का चरित्र माँगता
बाह्य अन्तर विकास आलोकित एकाकार लिए
तन मन समस्त चेतना मनुज की हो अभिन्न
इसलिये जानना चाह रहा हूँ आज कौन हैं ब्रह्मनिष्ठ !
इस राज सभा के बाहर वे गौएँ सहस्र हैं खड़ी वहाँ
सबके सींगों में स्वर्ण पत्र हैं जड़े हुये
हे आमंत्रित दार्शनिक सिद्ध ब्राह्मण समस्त !
जो ब्रह्मनिष्ठ हैं वे कनकालंकृत गौएँ ले जायँ साथ !

छा गई स्तब्धता सभी ओर
घोषणा ज्योति के निकट सभी संकुचित हो गये मन ही मन
कुछ ने साहस का दीप जलाना चाहा पर जल सका नहीं
कुछ ने विद्या की सरिता पर खेना चाहा
नौका प्रलोभ की एकबार

पर अभिलाषा पतवार नहीं छू सकी तुरत
सब मौन रहे अपने अपने आसन पर ही
दर्शक की आँखें ढूँढ रहीं प्रत्येक मुखाकृति की शोभा
पर सभी ओर सब मौन, कहीं भी नहीं गूँजती है पुकार
विभ्राट जनक का प्रश्न चिन्ह है खड़ा सभी के मस्तक पर
कोई भी ब्राह्मण नहीं यहाँ पर ब्रह्मनिष्ठ ?
क्या सत्य श्रेष्ठता ध्वस्त हो गई मिथ्या शोभित साधन से ?
क्या द्विजालोक बुझ गया प्रपंची जीवन में ?
——उठ रहे मनुज के प्राणों में संदिग्ध चिन्तना के विचार ।

इतने में बोले याज्ञवल्क्य——हे सौम्य शिष्य प्रिय सामश्रवा !
ले जा सहस्र गौओं को अपने आश्रम में
हूँ ब्रह्मनिष्ठ मैं ही केवल आर्यों की विस्तृत धरती पर
ब्राह्मण का जीवित एक सूर्य है अभी गगन में ज्योतिपूर्ण !"

सुनते ही यह, अश्वल का क्रोध उभर आया
बोलने लगा——ओ याज्ञवल्क्य! क्या ब्रह्मनिष्ठ केवल तुम हो?
देना होगा इसका प्रमाण इस भरी सभा मे आज तुम्हें
प्रश्नों की वर्षा होगी इसी जगह तुम पर !"

बोले ऋषि याज्ञवल्क्य क्षण में——
मानव के सभी गूढ़ प्रश्नों का उत्तर दूँगा हे अश्वल !
अध्ययन से केवल अन्धज्ञान ही होता है
अनुभूति मनुज को बहुत दूर ले जाती है
पर केवल इतने से ही मिलता नहीं धरा पर ब्रह्मज्ञान
जीवन की संचित आत्म शक्ति की व्याख्या भी हो सकती है ?
हाँ, मर्म प्रकट कर सकता है मानव वैज्ञानिक वाणी से

आत्मा का दृष्टि-विहीन चित्र
अनुभव की आँखों से ही आ सकते बाहर
मानवता की क्रीड़ाओं का साहित्य चिरन्तन साक्षी है !

बोले अश्वल---कह सकते हो हे याज्ञवल्क्य !
है दिवा-रात्रि से व्याप्त निखिल जग का कण-कण
सम्पूर्ण सृष्टि तम औ' प्रकाश के हैं अधीन
तब किस साधन से दिवस-रात-व्यापकता का
कर सकता है अति क्रमण स्वयं यजमान यहाँ ?
उत्तर में बोले याज्ञवल्क्य--
केवल अध्वर्यु ऋत्विक से ही तो, नहीं चक्षु रवि के द्वारा ।
अध्वर्यु यज्ञ का चक्षु स्वयं
औ' इसी लिये है चक्षु स्वयं आदित्य रूप
अध्वर्यु मुक्ति है, यही मुक्ति अति मुक्ति स्वयं !

इस तरह अनेकानेक प्रश्न के उत्तर मिलते रहे उन्हें
तब आर्तभाग ने कहा तुरत--
जिस समय यहाँ मृत पुरुषों की
वाणी हो जाती लीन अग्नि में,
प्राण वायु में, चक्षु अरुण में, मन मयङ्क में, श्रोत्र दिशा में
तन भूतल में
और हृदय-आकाश भूत आकाश तत्व में
औषधियों में रोम, वनस्पतियों में होते केश लीन
हो जाते जल में स्थापित जब ये रक्त, वीर्य
हे याज्ञवल्क्य ! तत्र पुरुष कहाँ पर रहता है ?"

हे आर्तभाग ! जन गण समक्ष इसका उत्तर देना
अनुचित सा लगता है
एकान्त कक्ष में आओ लो इसका उत्तर !

नृप की अनुमति पाकर दोनों ही अलग हुए
सम्पूर्ण ज्ञान पर कर्म हो गया खड़ा स्वयं
सम्मुख छाया पर पाप पुण्य की दो नदियाँ मिलकर बोलीं–
हे कर्म ! मर्म की रेखा ही तुम मत खींचो
तुम खिलो स्वयं शतदल बनकर इस संगम पर
ज्ञानान्त लिये ज्ञानोदय में !

चाहा विदेह ने उत्तर का आलोक खिले जन के नभ में
पर नहीं मिली कोई पुकार मन के मुख से !
आश्चर्य चकित हो गये भुज्यु लाह्यायनि जब
उत्तर पाकर निज प्रश्नों के
तब चाक्रायन ने कहा––दृगों में ज्योति लिये––
"अपरोक्ष ब्रह्म-साक्षात और सर्वान्तर आत्मा से तुलनात्मक
व्याख्या मेरे प्रति दो हे प्रिय याज्ञवल्क्य !"
"यह तेरी आत्मा ही सर्वान्तर है उपस्त !"
"सर्वान्तर है वह कौन आर्य ?"
"वह तेरी आत्मा सर्वान्तर
जो प्राणों से करती है प्राण क्रिया प्रतिपल
करता अपान से सदा अपान क्रिया––
करता है व्यान उदान क्रियाएं जीवन में हो व्यान उदानों से
वह सर्वान्तर, आत्मा तेरी सर्वान्तर है !
पर देख नहीं सकते सुदृष्टि द्रष्टा को तुम

श्रुति श्रोता का तुम सुन भी कभी नहीं सकते
मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते हो
विज्ञातिपूर्ण विज्ञाता क्या है तुम्हें ज्ञात ?
आत्मा ही तो सर्वान्तर है, इससे न भिन्न है आर्त यहाँ !

ऋषियों के शत प्रश्नोपरान्त विख्यात दार्शनिका गार्गी ने
दूसरी बार पूछा सगर्व--
"हे याज्ञवल्क्य !
जो है द्युलोक से ऊपर, नीचे पृथ्वी से
जो है द्युलोक धरती के मध्य भाग में ही
जो स्वयं धरा औ' है द्युलोक
कहते हैं जिन्हें भविष्य, भूत औ वर्तमान--
ये किसमें ओतप्रोत भला ?"
"ये सब हैं ओतप्रोत व्योम में ही गार्गी !"
"तब किसमें ओतप्रोत गगन ?"--फिर वह बोली
"अक्षर में ही हे गार्गि ! सुनो--
"अक्षर न स्थूल, अक्षर न सूक्ष्म"
यह गुरु, लघु, लाल, द्रव्य, छाया, तम, वायु औ' आकाश नहीं
मन, प्राण, तेज, वाणी, लोचन, रस, गन्ध न यह
बाहर भीतर कुछ भी न माप है अक्षर में
खाता न स्वयं वह कुछ, कोई भी उसे नहीं खा पाता है
अक्षर अनुशासन और प्रशासन में रवि शशि--
धरती, द्युलोक आकर्षण में केन्द्रित प्रतिपल
अक्षर अन्तर्गत ही निमेष
इसके अन्तर्गत ही मुहूर्त, दिन रात, मास, ऋतु सम्वत्सर
अक्षर अनादि औ' अन्त विभूषित परमेश्वर

है वही दीन, है वही हीन कर सका न जो अक्षर अनुभव
पा सका नहीं अनुभूतिपूर्ण विज्ञान ज्ञान का सिन्धु सत्य
जिसके अन्वेषण पथ में खिलते अग्नि फूल
मिलते हैं तब साधना ज्वार
औ' तभी देह के पार, कामना हो जाती है जहाँ क्षार
मिलती प्रकाश की धार
जहाँ फिर आकर ज्योति समीर उड़ा ले जाता आत्मानन्दमुक्त
औ' तभी व्याप्त हो जाना उड़ना शून्य स्वयं
बन कर अशेष संगीत सृष्टि स्वर को विमुक्त कर बन्धनसे !

सुनते ही यह हो गई मौन गर्वित गार्गी
सन्नाटा सा छा गया सभा में एक वार
महिलाओं की उत्सुकता की किरणें उदास हो रही तनिक
विद्वद् मण्डल अब भी प्रशान्त, गम्भीर धैर्य से दीपोज्ज्वल
हो रहा लक्ष्य से स्वयं प्रतीक्षा-गृह निर्मल

इतने में ही
उठकर बोले शाकल्य——सभासद ! शेष प्रश्न मैं करता हूँ
श्रोता के मन पर एक हिलोर उठी सहसा
वे बोल उठे——हे याज्ञवल्क्य !
धरती जिसका यज्ञस्थल है
जिसकी प्रज्योति मन, अग्निलोक
जो भी उसको सम्पूर्ण पूर्ण अध्यात्म कर्ममय-करण केन्द्र का
जान रहा है परमाश्रय
क्या नहीं वही ज्ञाता महान मानव प्रदीप्त ?

नेत्रों में आभा लिये मिला उत्तर प्रशान्त——

प्रिय, निज अपूर्ण विद्या का मत अभिमान करो
वाणी वीणा के संग सर्वदा रहती है
फूलों से सज्जित डाली को देखा है तुमने मधुऋतु में ?
सौन्दर्य-सुरभि से झुक जाती है विनयपूर्ण
यदि नहीं झुकी
तो प्रकृति वायु की साँस छोड़ती है प्रमत्त
झकझोर दिया करती है पुष्पित डाली को !

शाकल्य ! सुनो, तुम सर्व प्रथम विद्या-विनम्रता ही सीखो
अन्यथा नहीं समझोगे तुम अध्यात्म और मानव-दर्शन
ज्ञानी है वह जो विजय करे जीवन पर भी
ज्ञानी है वह जो विजय करे निज मन पर भी
ज्ञानी है वह जो विजय करे निज तन पर भी
सम्पूर्ण ज्ञान के लिये सुनो शाकल्य वत्स !
करना होगा जीवन का अविरल यज्ञ यहाँ
पीना होगा उत्सर्ग सरित का शुभ्र नीर
करना होगा कल्याण कर्म इस धरती पर

सूरज को देखो !
केवल, वह केवल ज्योति पुंज ही नहीं, प्रगति का रथ भी है !
इसलिये ज्ञान के लिये कर्म अनिवार्य यहाँ
पर कर्म मर्म के लिये नम्रता भी आवश्यक साधन है ?
तो सुनो प्रश्न का उत्तर भी--
जिस ओर तुम्हारा इंगित है
मैं उसे जानता भी तो हूँ
शारीर पुरुष जो है सम्मुख, है वही यही

देवता अमृत ही है उसका !
इस तरह अनेकानेक प्रश्न के उत्तर मिलते रहे तुरत
बैठे सलज्ज शाकल्य अजय का तिमिर लिये
अस्ताचल पर दार्शनिक यज्ञ का रवि आया
बोला सबसे—मैं ज्योति प्रश्न कुछ करूँ यहाँ ?

सब मौन, शान्त, कोलाहल हीन सभा मंडप
केवल विदेह के अधरों पर मुस्कान एक
जैसे पूरब से चन्द्र उग रहा हो चुपके
औ' संध्या की कालिमा भूमि पर फैल रही हो मन्द मन्द
अम्बर से अगणित नयन झाँकते हों झिलमिल।

तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे भूपति विदेह !
कह रही विजय मेरी ले जाओ गौओं को
क्या ले जाऊँ मैं धेनु वृन्द निज आश्रम मे ?
पर मेरा ब्राह्मण कहता है तुम गौओं को वितरण कर दो
गर्वोन्नत होकर नहीं, प्रेम सर्वोन्नत हो
ब्राह्मण है वह जो मुक्त रहे संचित धन से
कंचन प्रलोभ के स्वर्ण कमल पर ब्रह्म कहाँ ?
हे अतिथिवृन्द ! मैं ब्रह्मनिष्ठ तो हूँ लेकिन मेरा विदेह
सिंहासन पर भी बैठ किसी संन्यासी के संचित तप से है श्रेष्ठ स्वयं
है ज्ञात व्यास औ' वाल्मीकि को यह रहस्य
निर्मलता में रह कर साधन करना तो उतना कठिन नहीं
जितना कि विषमता और विरोधी तत्वों में मिलकर करना
साधना यहाँ
आकर्षण के गृह में हो सकता कभी योग ?

सिंहासन पर हो सकती है साधना कभी ?
देखो विदेह को हे ज्ञानी !
इस परमहंस को देखो कर्मोन्नत भू पर
जो बाँध रहा आकाश साँस उच्छ्वासों से
इसकी विशालता का साक्षी हूँ मैं केवल
उन्मुक्त कर्म सम्राट् चाहता, हो विमुक्त मानव बन्धन
चाहता भूमि पर मानव हो सम सम्मानित
औ' सचमुच ही
मानव तो मन्दिर है विराट परमात्मा का
मानवता के उदयाचल पर ही परम सत्य का सूर्य मिला।
जो मनुज नहीं पहचान सका, वह उसे कहाँ तक जानेगा
जो स्वयं न निज को जान सका, वह ज्योति नहीं पहचानेगा
यह जीवन है इसलिये कि जग हो जाय ज्ञात
इस लिये ज्ञान से बढ़ कर वैभव नहीं यहाँ
पर बिना कर्म के ज्ञान अधूरा ही तो है !

हे अतिथि वृन्द !
मैं हूँ विदेह का प्राण-सखा
जग समझ रहा है राजगुरु
पर मैं हूँ प्राण-सखा नृप का
संस्मरण सुनाता हूँ मैं केवल एक यहाँ--

कौशिकी-तटी पर यज्ञोत्सव करते थे ऋषियों के समूह
आचार्य श्रेष्ठ था मैं ही उस दिन प्रथम बार
ज्योतिर्मय ॐ विराटोच्चारण से गुंजित था दिगदिगन्त
उठती थी हवन-विशाल-कुण्ड से अग्नि-शिखा

गो घृत मिश्रित नव धूप धूम्र की शुचि सुगन्ध थी वहाँ व्याप्त
अश्वत्थ छाँह में प्रखर अंशुमाली-प्रकाश की छाया करती थी झिलमिल
ग्रीष्मोष्णोज्ज्वल लू लपट लास से सिकता शोभित सरि का तट—
तप-तप कर ज्वाल उगलता था मध्याह्न-तेज की शक्ति लिये
सम्मुख उजड़े-उजड़े खेतों में अग्नि-नीर था बरस रहा
शिवमय विदेह की ध्यान मग्न आँखें अन्तर का सत्य लिये
श्मशान-समान निरखतीं थीं जग के मग को
वैसी गर्मी मैंने न कभी देखी भू पर
धीरे-धीरे रक्तिम दिनान्त से पूर्व हुआ यज्ञावसान
ऋषियों के दल हो गये खड़े हवनोपरान्त
मैं नृप के सम्मुख खड़ा हुआ था अर्घ्यपूर्ण
'औ' इसी बीच थर-थर-थर-थर काँपती हुई——
श्री-हीन विटप-पल्लविनी-सी
अति घृणित कुष्ट पीड़िता एक षोडशी अचानक आ पहुँची
उसकी मुख-छवि थी चमक रही पूर्णिमा सदृश
पर शेष अंग प्रत्यंग हाय वीभत्सपूर्ण
तन के तरु में शत शत फोड़े के फूल खिले थे पीव युक्त
अति सड़े हुए शव के समान ही निकल रही थी जीर्ण गंध
जर्जर रोगिनी जनक सम्मुख आई आशा के ज्वार लिये
बोली——विदेह ! मेरी शोभा को देखो तो
कितनी सुगन्ध है जीवन में
आई हूँ लेने प्रेम-दान
करलो राजन तुम अधर पान !
सँभव है कल ही मर जाऊँ

मिट्टी के नीचे गड़ जाऊँ
अन्तिम अभिलाषा लेकर आई हूँ नरेश !

देखा विदेह ने तरुणी को––तरुणी की भीषण ज्वाला को
तरुणी ने भी देखा अन्तर से उठती-सी उजियाली को
वह लिपट गई वक्षस्थल से नयनों में कम्पित नीर लिये
विभ्राट जनक ने उसे गोद में उठा लिया
ज्योतित-चुम्बन का पुष्प-गुच्छ कर दिया समर्पित प्राणों से
मां के समान उस प्रेम-प्रकृति के चरणों को छू लिया स्वयं
ऋषिगण विस्मय से चौंक उठे
मैं भी चौंका
आश्चर्य चकित हो गया आज !
हे श्रोतागण !
जितने ऋषि थे सब दूर हट गये थे उस क्षण
उस गलित कुष्ट की गंध असह थी सबके हित
पीड़िता-षोडशी चली गई सरिता-तट पर
इतने में आँधी उठी एक
छा गया धूल का अँधकार
बिजलियाँ कौंधने लगीं तुरत
है याद उसी क्षण एक सिंह भी गरज उठा
धीरे-धीरे हो गई शान्त यह निखिल प्रकृति
पूरब दिशि से चाँदनी फूटने लगी शुभ्र !"

निज आत्म-प्रशंसा की वेला, कर्णेन्द्रि सुप्त थी भूपति की
ज्ञानगृह द्वार खुला सहसा

निकले विदेह कर्माकुल हो
औ' सभा विसर्जन की विनम्र घोषणा हुई
इसके पहले नृप के द्वारा ही क्षमा याचना हुई--
और तब शान्तिपूर्ण धीरे-धीरे सब निकले मंडप के बाहर
गूँजे वीणा पर सान्ध्य गीत द्रिम-द्रिम स्वर से सिंचित
मृदंग के संग-संग

उस रजनी में
उत्सुक गार्गी नृप के दर्शन के लिये गई
बोली--विदेह ! मानव क्या है ?
हँसते ही बोले जनक तुरत--
मानव है वह जो मनन करे जग का जीवन
जो शुद्ध करे निज मन को आत्मा के बल से
जो पिये सत्य की सुरभि, जिये निर्भय हो कर
जो रुके नहीं तम के पथ पर खाकर ठोकर
"इतना ही क्या ?" बोली गार्गी
इतने में ही सब कुछ देवी !
मानव का मन जब आत्मा में मिल जाता है
तब मानव अभिनव परम रूप हो जाता है
जिस तरह चेतना की पवित्रता महा ज्ञान बन जाती है !

हे प्रिय विदेह ! नारी क्या है ? गार्गी ने प्रश्न किया नूतन
मुस्कान पूर्ण उत्तर निकला--
नर को पवित्र जो करे वही नारी विशुद्ध
जीवन-यात्रा के दो पंथी हैं नर-नारी
दोनों समानता के बन्धन में मुक्तोन्मुख हैं ज्योति लिये !

"नयनों में जल क्यों है विदेह"—बोली गार्गी
करुणा में ही मिलती है किरण प्रखर मन की
इसलिए दया-दिव्यता मनुज के कर्मों में
औ' क्षमा ज्ञान की वनिता-सी उज्ज्वला स्वयं
जिसके नयनों में नीर नहीं वह विश्व पीर को क्या जाने ?
हाँ पूर्ण ज्ञान के लोचन रोते नहीं कभी
पर मानव बन कर मानव के सँग रोना पड़ता है गार्गी !
पुत्री की प्रथम विदाई में जो रो न पड़े
वह भी मनुष्य है क्या भू पर ?
निज पुत्र वधू के आने पर जिसका अन्तर पुलकित न हुआ
क्या वह भी मानव है भू का ?"

देखा विदेह ने गार्गी के निर्मल कपोल पर
बादल के दो विह्वल टुकड़े के समान
दो आँसू कण को झरते भी
देखा जीवन के मन को तनिक सिहरते भी
श्रद्धा के पथ पर तप को तनिक ठहरते भी !

चतुर्थ सर्ग

संगीत-गीत प्रस्फुटित प्रीत-नव इन्द्रधनुष के पंख खुल गये--
सतरंगी
मधु मदिर मोह माया अलमित सुर-सांध्य रागिनी
हुई ध्वनित,
सौन्दर्य-चन्द्र कामना-क्षितिज पर हुआ उदित
वासना-वेणु स्वर-पथ पर नूपुर-हास हुआ
उल्लसित तरंगित तरल तान मे गूँज उठा प्रासाद भव्य
कल्पना-स्वर्ग-सोपान-पुष्प से उतर रही शत नर्त्तकियाँ
पुष्पालंकृत वेणी में लिये वसन्त सुरभि
कोमल कर में लेकर कलियों की पंखड़ियाँ
दृग में भरकर अलका-रमणी का आकर्षण !

भू के इन्द्रासन पर बैठे योगी विदेह
देखते नृत्य के कला-कुंज
बैठे हैं निकट नृपति के प्रिय ऋषि याज्ञवल्क्य--
जो नयन मूंद कर सुनते हैं नूपुर-गुंजन,
संगीत-नाट्य-कलरव प्रसन्न

दीपिकावली जल रही कक्ष के सभी ओर झिलमिल-झिलमिल
नृत्योत्सव की मधुरिमा-यवनिका उठी एक
प्रिय मदन-दहन का भाव-नाट्य प्रारम्भ हुआ
शिव के प्रशान्त तन पर फूलों के बाण लगे

सुन्दरता ने छू लिया अधर को एक बार
आलिंगन का जादू वसन्त-बन में फैला
रे, दिग्दिगन्त हिल गया रूप की साँसों से
साधना-शिखर पर भी चाँदनी सुव्याप्त हुई
चौंके शंकर तीसरे नयन को तनिक खोल
औ' हुई अनल-झंकार एक
गिर पड़ा चरण पर कामदेव होकर अनंग
तब उमा विहँसती-सी आई उस जगह स्वयं
औ' वह अनंग छिप गया पार्श्व में चुपके से !
नटराज उठे,
सुकुमार प्रिया के संग नृत्य में हुये मग्न
अध्यात्म प्रेम के पंख खोल नाचने लगा
वाद्यों का परिवर्तित रव सहसा गूँज उठा
संगीत-नृत्य हो गया शेष धीरे-धीरे !

आये विदेह बाहर हँसते ऋषि याज्ञवल्क्य के संग-संग
औ' बैठ गये दोनों हरियाली के आसन पर एक साथ
है शरत्पूर्णिमा आज,
गगन की आभा उतरी है भू पर
चू-रहे हवा-हिलकोरों से शेफाली के उजले प्रसून
चन्द्रिका-वृष्टि में निशिगन्धा की सुरभि-सृष्टि मिल रही स्वयं
शीतलता के अमृत-कण झरते हैं झर-झर
लगता विदेह को यह धरती कितनी सुन्दर
कितनी मनहर

वे बोल रहे—हे याज्ञवल्क्य !

सौन्दर्य सत्य का ही स्वरूप
औ' सत्य स्वयं सुन्दरता की चेतना-सृष्टि
जिसकी सुज्योति में शिवानन्द मंगल सुलक्ष्य
धरती की शोभा धरती में ही लीन व्याप्त ।

अम्बर धरती से भिन्न नहीं, वह एक सत्य का ही वितान
नीलिमा धरा की ध्वनि अनन्त
जिस पर शोभित नक्षत्र-फूल, रवि, शशि, तारे
वे सभी धरा के लिये दीप्त
वे सभी मनुज-हित ज्योतिर्मय
वे सब तम में ही खिलते हैं
यदि तिमिर नहीं हो जग में तो
आलोक नहीं विकसित होगा

नभ में नीलिमा नहीं होती
तो सूर्य-चन्द्र लगते फीके
तारे भी नहीं दिखाई पड़ते भूतल से
इसलिये नीलिमा सत्य-स्वप्न
औ' प्रिय प्रकाश सौन्दर्य-पुंज

मानव का ज्ञान-प्रकाश मनुज के तम से ही
आता है नव चेतना लिये इस धरती पर !
जब ज्ञान चमक उठता है जीवन के नभ में
तब तिमिर नहीं दिखलाई पड़ता है मन पर

वासना-घटा से ज्ञान-सूर्य क्या छिपता है ?
वह तो जलता ही रहता है ऊपर-ऊपर
जिसकी छाया पड़ती भू पर घन से छन कर !

मानव को मानव ही रहना अच्छा होगा
धरती ही स्वर्ग बनेगी मानव के कर से
मानवता की चेतना स्वर्ग की किसी सिद्धि से शिवमय है

इस मिट्टी में ही मुक्ति मिलेगी मानव की
जीवन की कली खिली है इस मिट्टी से ही
इसकी पँखुड़ियाँ भी झरती हैं धरती पर !

आकाश और अवनी दोनों आश्रित छवि हैं
एकता-पाश में बँधा हुआ है एक सत्य
धरती की ध्वनि आकाश और नभ की ध्वनि हरी भरी धरती
जिस तरह जन्म मे मरण, मरण में जन्म स्वप्न

है व्योम भूमि के लिये और यह भूमि व्योम के लिये व्यस्त
यदि शंकर है आकाश, उमा प्यारी धरती
दोनों का बँधन प्रेम युक्त, है सृजनयुक्त
भू से ऊपर भी उठना होगा मानव को
आकाश नित्य देता है आमन्त्रण भू को।
ये सूर्य चन्द्र नक्षत्र नित्य कुछ कहते हैं !

इतने में एक भिखारी आया नृप सम्मुख
फैलाया उसने कम्पित कर धीरे धीरे
चाँदनी रात मे पके बाल रेशम से कितने चमक रहे
काँपती हुई उस म्लान कान्ति पर रेखायें जीर्णता लिये
दीनता व्यक्त करती हैं एकाकी वय की
नीली पीली चमकीली आँखें करुणा से जल पूर्ण स्वयं
उजली भौहें कर रही व्यंग्य प्रति दर्शक पर
वह दयावान माँगता दया की भीख आज अपने नृप से

जो दर्शन में ही उलझ-उलझ करते हैं नभ भू की बातें
पर एक प्रश्न इस मिट्टी का
माँगता एक उत्तर केवल
ऋषि याज्ञवल्क्य देखते शरद शोभा ऊपर
पर करुणा दृग को रोक रही अक्सर भू पर !

वह वृद्ध,
खड़ा है उसी तरह, उस मुद्रा में ही डूबा सा
कर काँप रहा किंचित थर थर
है झुका कमर शिशिरान्त काल के पीले पत्तो के समान
दुर्बल है पग युद्धान्त काल के घायल सैनिक सम केवल !

राजर्षि जनक ने उसे बिठाया निज सम्मुख
औ' स्वयं पुकारा किसी एक प्रहरी को भी
वह वृद्ध राज्य का अतिथि हुआ जीवन भर के ही लिये आज
वह चला गया प्रहरी के सँग ।

पर याज्ञवल्क्य से कहा नृपति ने एक बार--
हे ऋषि उदार !
लगता है जैसे योग जनक का हुआ व्यर्थ
योगी हो यदि सम्राट, और हों भिक्षु राज्य में भी उसके
तो योग एक साधना व्यंग्य
जन मन के सम्मुख एक प्रदर्शन ही तो है
यदि कर्म योग से सम कल्याण नहीं होता
तो सत्य मर्म पायेगी कैसे यह धरती ?

मानवता का संगीत स्वप्न समता प्रसृष्टि हित ही केवल
आर्यों का जाति विभेद कर्म के सृजन हेतु
यदि ऊँच-नीच के लिये वर्ण निर्माण हुआ
तो मानव की एकता सहजता कटुता में मिल जायेगी
यदि जन्म एक प्रतिकूल भाव ले आये तो
कर्तव्य मनुज को करना होगा जाति सदृश सर्वोदय हित
अन्यथा एक तूफान उठेगा धरती पर
जो मानवता का कलुषित बन्धन तोड़ेगा
कर्मानुकूल मानव संसार बसायेगा
औ' यही न्याय भी है जग का
मानव मानव ही है
प्रभुता से जब वह गर्वित हो जाता
तो वह दानव की शक्ति हाथ में लेता है ।

तप, योग, ज्ञान, बल, बुद्धि मनुज के अहँकार के लिये नहीं
ये तो विनम्रता और शीलता के हित हैं ।
उस वृद्ध भिखारी का स्रष्टा मैं हूँ केवल
वह तो जीवन पुस्तक का सचमुच शेष पृष्ठ
जो झांक रहा है जीवन की सन्ध्या अपनी
वह एक अकेला ही जग में
परिवार नहीं, घर द्वार नहीं
जीवन वीणा की वह अन्तिम झंकार स्वयं
है एक तार झंकृत केवल
असहाय हाय, वह इसी अवस्था में भिक्षाटन करता है
यह किसका है अपराध ?
वृद्ध का नहीं, राज्य-संचालक का !

वह देश जहाँ रोती-फिरती है भूख स्वयं
विद्या विहीन हैं नर-नारी
ंगीत, कला, साहित्य नहीं
प्राचरण नहीं जन-जीवन में
उसका संचालक दोषी है, मानवता के कारागृह में
वह बंदी है !
धरती राजा की नहीं, मनुज की ही केवल
राजा तो केवल रक्षक है, न्यायी है, सेवक, प्रहरी है
वह नृपति जो कि सम-न्याय लिये
करता सुकर्म इस धरती पर वह कर्म योग का मानव है
वह स्वयं महात्मा है अपने सिंहासन का
जन-मन-वन का वह ऋषि महान कर्त्तव्य लिये !
मानवता का वह कलाकार
जो सत-शिव-सुन्दर चित्र बनाता जन-मन में

सम्पूर्ण देश है एक चित्र
सातों रँग जिसमें लगते हैं
सम्पूर्ण देश संगीत स्वयं,
सम्पूर्ण देश साहित्य-रूप
इस तरह देश का नृपति एक विभ्राट मनुज
जो सदा सत्य पर रहता है शिवगंधमयी सुन्दरता की
कामना लिये
करता नवीन कल्पना नित्य
रचना है जीवन-ज्योति-मूर्ति
भरता है संयम-शुभ्र प्राण

शिव-ब्रह्म-विष्णु की छाया में रहता नरपति का परम कर्म
है यही धर्म इस धरती का
जब कर्म ज्योति संचय करता वह धर्म स्वयं हो जाता है
मानव-विधान का सत्य धर्म की ध्वनि-सुज्योति ।

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले--विदेह !
मानव का मन संयम के बन्धन में ही रहता है पवित्र
कर्मों का फल कैसे न मिलेगा मानव को ?
पर देख रहा हूँ मैं भी अब
संघर्ष उठ रहा है नूतन मन-प्राणों से
है खड़ा सत्य पर न्याय स्वयं
मनुष्यत्व ढूँढता ज्योति-पुष्प भू के समस्त उद्यानों में
जल-जल उठता विश्वास तर्क की लपटों से
दर्शन में ईश्वर की छाया भी काँप रही ।

सच है महर्षि !--बोले भूपति--
मनुष्यत्व न्याय में ही रहता
क्या सत्यान्वेपण बिना न्याय से संभव है ?
जिसके जीवन में न्याय नहीं, वह सत्य नहीं पा सकता है
जो न्यायवान, जो सत्यवान है वही मनुज ईश्वरमय भी
अन्तर विकास आर्यों का हुआ बहुत लेकिन
भौतिक-विकास का सत्य रो रहा है भू पर
मैं प्रजा-समर्थित हूँ नरेश
पर हूँ तो एक मनुज ही मैं
राजा भी एक प्रजा ही तो है न्यायपूर्ण
सम्राट सृष्टि का स्वयं सत्य है हे महर्षि !

क्या सत्य नहीं चाहता, मनुज समतामय हो ?
लेकिन मनुष्य भी तो विचित्रता से शोभित है जन्मजात
है भरी विविधता जीवन में स्वाभाविक गति-उत्सुकता से
कैसे ज्ञानोदय हो समस्त चेतनापूर्ण मानव-जग में ?
ज्ञानी होना तो कठिन कार्य है धरती पर
इसीलिये सहजता के पथ पर अधिकाँश मनुज चलते रहते
अध्यात्म-लक्ष्य सबके हित संभव नहीं यहाँ
भू-न्याय-प्राप्ति भी तो है सत्योज्ज्वल सुकर्म !

यदि ब्रह्म-मर्म-अन्वेषण से भागता मनुज
तो कर्मपूर्ण जीवन ही क्या कम कठिन यहाँ ?
भू का भविष्य मानव-समता को देख रहा
निश्चय मनुष्य जीवन का बन्धन खोलेगा
हे याज्ञवल्क्य ! नृप के विशाल सम्पति कोश का अधिकारी
है प्रजावृन्द।

उजले बादल ने आकर शशि को घेर लिया
यह देख जनक-चिन्तना हो गई शेष
वेश कुछ बदल गया नभ का सहसा
तारों की झिल मिल वेला में !

× × ×

उस दिन सुमेरु-गिरि के उत्तुंग शिखर पर ही
सुविशाल वृक्ष की छाया में जिस जगह एक
पतली निर्झरिणी बहती थी
कुछ फूल झर रहे थे समीर के झोंके से,
दो हिरणी आकर पानी पीती थी चुपके
दृग से सींगों को देख-देख

मृग-शावक अपनी परछाईं थे देख रहे निज कर्ण हिला
दो-चार पहाड़ी चिड़ियाँ भी थी फुदक रहीं उस ओर जहाँ
हरियाली पर शीतलता सोई थी आकर
जिसके आँचल को उड़ा रही थी मुग्ध वायु
नव उदित वक्ष के पुष्प-गुच्छ भी हिलते थे
साँसों से सुरभि निकलती थी धीरे-धीरे !

उस देवदारू से तनिक दूर
पत्थर के ऊँचे टीले पर जो हरित घास से शोभित है
जिस जगह एक गिरि-प्राणों से वह जल-प्रपात
झरता झर-झर
बैठे हैं चिन्ता-मग्न व्यास लम्बी दाढ़ी पर हाथ दिये
सिर पर शोभित गेरुआ शुभ्र निर्मला जटा
लट नीचे तक हैं लटक रहे भूरे-भूरे
है व्याघ्र चर्म शोभित तन पर।

उस टीले के नीचे
प्रस्तर पर बैठा है बालक प्रबुद्ध
नयनों में घोर उदासी है
मुख की ध्वनि में अनुरक्ति नहीं
जीवन में एक विरक्ति भाव
ज्ञानी होकर ही वह निकला जननी के ज्योति उदर-गृह से।
है वन-जीवन का अभिलाषी
इसलिए व्यास हैं अति चिंतित
यह उनकी इच्छा के विरुद्ध बन रहा स्वयं ही संन्यासी
शुकदेव नाम उस बालक का जो आत्म ज्ञान से हीन, शून्य !

सोचते व्यास धरती पर ऐसा कौन पुरुष
जो दे सुपुत्र को आत्म ज्ञान
वह कौन महर्षि मनुज जग में जो बने पुत्र-गुरु जीवन में
सम्पूर्ण दृष्टि में विश्व चित्र झाँकने लगा
सामने विहँसने लगे जनक ज्योतित विदेह
अभिलाषा की मुस्कान वहाँ पर रुकी स्वयं
औ' कहा व्यास ने निज सुपुत्र से–हे सुतात !
जाओ तुम मिथिलापुरी जनक के यहाँ स्वयं
वे हैं विदेह आलोकपूर्ण
दे सकते वे हो आत्म ज्ञान
वे योगिराज इस युग के परम प्रकाण्ड मनुज
प्रस्थान करो हे तात, इसी क्षण ही पथ पर !
चलते चलते दो तीन वर्ष के बाद यहाँ तक पहुँच गये
शुकदेव आज
आश्चर्य चकित हो गये देख कर मिथिला को
जो आर्य-ज्ञान का केन्द्र स्वयं
शिशु की वाणी में भी दर्शन साहित्य मिला !

मिथिला के राजद्वार निकट शुकदेव खड़े हैं हर्षाकुल
तरु मौलसिरी की छाया में उनकी उत्सुकता पूछ रही—
हे द्वारपाल ! रहते हैं योगी जनक कहाँ ?
मैं आया हूँ उनसे मिलने
तुम मुझे वहाँ ले चलो शीघ्र
"है काम कौन ?" प्रहरी के मुख से निकल पड़ा—
तो तुम कोई सम्वाद लिये आये हो क्या ?"

"सम्वाद नहीं, दर्शन चिन्तन हित आया हूँ
मैं व्यास पुत्र हूँ, आत्म ज्ञान लूँगा उन से!"
प्रहरी ने हँस कर कहा कि तुम तो बच्चे हो
कैसे समझोगे आत्म ज्ञान की परिभाषा का घोर सत्य ?
तुम ज्ञान समझते हो कुछ भी ?
देखूँ तुममें कितनी विवेक की ज्योति छुपी !

आश्चर्य चकित शुकदेव सोचने लगे तुरत--
मिथिला का प्रहरी भी करता है ज्ञान-तर्क
निश्चय ही योगी जनक एक विभ्राट पुरुष
वे बोल उठे--हे तात, ज्ञान चेतनाह्वान
जिसकी ध्वनि सुन कर्मोपरान्त मानव देखता विमुक्ति स्वप्न !"
"तुम स्पष्ट नहीं क्यों कहते प्रिय,
है ज्ञान कर्म-संधान शक्ति
जिसके अन्तर में जीवन आत्मोदय प्रशान्त
जो मानव को मानवता में परिणत करता !"
"मानवता ?
मानवता ही उद्देश्य मनुज के जीवन का ?--
जीवन का चरम विकास सजग संन्यास सिद्धि ?
उत्सर्ग लक्ष्य है मानव के सत्कर्मों का"--
बोले शुकदेव प्रखर स्वर से

तब प्रहरी ने कह दिया उन्हें--
उत्सर्ग ! और संन्यास सिद्धि ?
हे योगिराज ! तुमने आँधी को देखा है ?
देखा तो होगा निश्चय ही

जीवन के पथ में बाधाएँ आती रहती हैं बार-बार
उन बाधाओं की राहों पर कर्त्तव्य प्रतीक्षा करता है
कहता है—ओ निर्भय मनुष्य निर्माण करो निज सपने का
अन्यथा मौन चलने में जीवित सत्य नहीं मिलता पथ पर।
कर्मों की विजय प्राप्ति ही तो सत्कर्म मर्म
मानव के सम्मुख विजय चिह्न है लगा हुआ
जिसके अनेक हैं अर्थ समय की लहरों में
उत्सर्ग और संन्यास सिद्धि भी विजय युक्त अभिनन्दन है
जिसकी अन्तर्ध्वनि छाया में संतोष शान्तिमय हो जाता
देखो बालक !
इस धरती पर आडम्बर भी फैलने लगा
संन्यास आवरण में यश के कामना-स्वप्न को मत देखो
देखा है मैंनें ऐसे भी संन्यासी को
जिसके यौवन का ज्वार उमड़ आया चुपके वासना सोम के उगनें से
निज स्वाभाविक इच्छा के भी प्रतिकूल मनुज
चाहता भागना धरती के कोलाहल से
भीषण अरण्य की छाया से मानव निकुंज क्या सफल नहीं ?
देखो विदेह को ओ ज्ञानी !
कर्मोन्मुखी योगासन पर बैठे हैं निज साम्राज्य लिये
अनुशासन के सिंहासन पर नृप हैं अवश्य
पर वे नरेन्द्र से अधिक एक मानव ही हैं
वह मानव जिसकी उत्कंठा ही आत्म चेतना का प्रकाश
जो स्वयं सर्व उत्तर अन्तर के प्रश्नों का !

वैराग्य शिशिर के प्राणों में अनुराग वसन्ती पवन
झूमता चला गया

निद्रा के शुष्क मरुस्थल में पावस की एक घटा आकर
यों गरज उठी
जन्मान्ध भावना की आँखें सपने में जैसे खुलीं प्रथम छवि के समक्ष
प्रिय व्यास पुत्र प्रहरी की जिज्ञासा के वन में खड़े रहे,
प्रहरी बोला--"तुम जन्म जात योगी हो, मैं यह जान रहा
पर कैसे मानूं ज्ञान तुम्हारा है विशाल
तुम सुन्दरता का सत्य नहीं पहचान सके
तुम नारी के प्रेमाश्रु नहीं पहचान सके
चाँदनी फूल में क्या है इसे न जान सके
संयम की शोभा में ही केवल ज्ञान नहीं
भारती नहीं रहती केवल उज्ज्वलता में।

तम और विभा के संगम पर जीवन की सरिता बहती है
परिमल से ओतप्रोत शुभ्र शतदल पर वाणी बैठी है
कह रही हृदय वीणा की मृदु झंकार बुद्धि से बार बार--
यह अन्धकार
यह है प्रकाश
दोनों का चिर अस्तित्व सृष्टि की प्रगति शक्ति
जीवन की विषम विविधता में नित नया ज्ञान मिलता रहता
है प्रकृति ज्ञान जननी इसमें सन्देह नहीं
पर मानव का विभ्राट ज्ञान मानव समूह में हो केन्द्रित
सम्पूर्ण भूमि पर मानव ही है ज्वलित ज्ञान
आदमी समस्याओं का है तूफान एक
आदमी परिस्थिति की आँधी है धरती पर
इसलिये मनुज का जीवन ही है ज्ञान पिता
मानव के वन में कर्म-तपस्या से बढ़ कर भी कठिन योग ?

पर योग नहीं केवल इतना
साधना और संयम का आत्मिक अन्वेषण की सिद्धि
चाहिये योगी को
चारित्रिक ज्योति-सुगन्ध चाहिये साँसों में
जो घृणा और तम से भागे वह चारित्रिक आलोक नहीं
है वही प्रेम जिसके सम्मुख वासना न आँखें मिला सके
वासना वही जो मानव की चेतना हरण कर ले दृग से
ले जाये मन को उड़ा किसी निर्भर तट पर
जिस जगह रात, बरसात, और कुछ नहीं वहाँ !
मानव की तृष्णा में केवल है भोग नहीं
सुख की समस्त अभिलाषायें करती क्रीड़ा
मन के प्रशान्त सागर-तट पर
तृष्णा के शव को जला दिया जिसने अनुभव की ज्वाला से
वह महा मनुज ज्ञानी है अपने जीवन का
पर तृष्णा को त्यागता कौन ?
तृष्णा के फूलों के रस में डुबकियाँ लगाता है मनुष्य
कहता, जीवन का सुख है छवि की छाया में
कामना सफल करना ही तो उद्देश्य यहाँ
इच्छाओं का अति दमन एक अन्याय घोर
मन स्वयं प्रबल सम्राट वासना की अनन्त क्रीड़ाओं का
अन्तर की आकुल प्यास बुझाना जीवन का आनन्द-स्वप्न
पर आर्यों की इस मिट्टी पर आत्मा की किरणें आई हैं
जीवन को ज्वलित बनाने वाला तप का संचय हुआ यहाँ
मानव उर-तम से नहीं तेज से दिव्य बना
मानव स्वप्नों से नहीं सत्य से चमक रहा

उन्नत चरित्र का दीप न बुझ पाता भीषण तूफानों से !"

प्रहरी की भाषा-नौका पर हैं व्यास-पुत्र चुपचाप खड़े
अन्तर-विचार-लहरें टकराती हैं मन से
जब प्रकट हुई यह बात कि प्रहरी भी ऋषि है
तब एक बार वे हुए स्तब्ध परिश्रान्त मौन
पर उसने भी कह दिया उसी क्षण——हे ज्ञानी !
जंगल की ओर नहीं जाना निज जीवन में
मानव-वन में अनुभूति–चाँदनी आती है !
अवतरित बाल संन्यासी ! तुम सच-सच कहना
संगीत सुना है कभी किसी दिन जीवन में ?
क्या अब तक तुमने नहीं सुना ?
आत्मा की बहती नदी नहीं अब तक देखी तुमने योगी ?
तो क्या समझोगे जीवन को !
कोई भी योगी जब तक कला न छू पाता
उन्मुक्त ज्ञान की आभा में
उस योगी में मातृत्व-आत्म की शक्ति नहीं अन्तर-तर में
कहने को है आकाश शून्य
पर देखा है तुमने तारों की शोभा को ?
आँखों में चाँद उतारा है ?
आँसू में हँसते देखा है परछाई को ?
हिम-कणिका को फूलों पर झरते देखा है
एकान्त निशा के आँगन में ?
योगी ! तुम पहले देखो सारी चीजों को
तब पूछो अपने जीवन से क्या करना है
इसलिये व्यास ने भेजा है इस जगह तुम्हें

अन्धी आँखें क्या जाने प्राकृतिक छवि को !
ज्ञानान्ध मनुज क्या समझे अनुभव की भाषा !
अच्छा मैं जाता हूँ विदेह के पास अभी
तुम पाओगे जीवन के सर्वोत्तम साधन !

इस तरह तर्क के सात सेतु को ज्ञान-चरण ने किया पार
तब पहुँचे प्रिय शुकदेव स्वयं उस पार जहाँ था बन्द द्वार
नृप की आज्ञा से सप्त दिवस तक व्यास-पुत्र रह गये वहीं
आदेश और आज्ञा के संगम पर संन्यासी खड़ा रहा ।
सातों दिन के भोजन वैसे ही पड़े रहे ।
प्रहरी ने आग्रह किया उन्हें
पर पी न सके पानी भी वे
बोलते रहे सबसे इतना
मैं प्रथम करूँगा दर्शन ही मिथिलापति के !
इस हठ की चर्चा फैल गई कुछ इधर-उधर
आये अमात्य भी स्नेह लिये !
पाँचवें दिवस सन्ध्या वेला
कितनी महिलाएँ भी आईं
औ' ठीक उसी क्षण एक विदूषक भी आया
बोला सब से यह तान्त्रिक है
आया है रूप बदल कर ही
लगता है जैसे पख कट गये हैं इसके
यह अम्बर में उड़ने वाला है जीव एक
पर बच्चा तो मानव का है !
नारी विस्मय की आँधी में घूमती रही

औ' कुशल विदूषक विकल नयन को फाड़-फाड़
यों अंट-संट बोलता रहा वह रह-रह कर-
इसके मस्तक पर हंस बैठता है आकर
यह सागर का पानी पीता है सात बार
फूलों का व्यंजन ही खाता है इसीलिये
मस्तक का रंग सुनहला है !

कुछ महिलायें यह सुन-सुन कर
हँस रहीं वस्त्रसे मुँह ढँक कर
पर कुछ करुणा का दीप लिये देखती सत्य को बार-बार
औ' पुष्प चढ़ा देती हैं उनके चरणों पर अति श्रद्धा से !

सातवें दिवस नर्तकियों के उल्लास-हास से
गूँज रहा है राज भवन
सुन्दर परिधानाभूषण से हो रहा अलंकृत मंजुल तन
हैं खिले वक्ष के फूल, जहाँ लहराते हीरक हार शुभ्र
अधरों पर उषा हास, अलकों पर पुष्प गुच्छ है दर्शनीय
मुक्ता मणि रत्न जटित सिंहासनपर बैठे हैं मुक्त जनक
आकर्षण की लहरें वीणा पर दौड़ रहीं
उत्तेजित मृदु झंकार प्राण के द्वार-द्वार को खोल रही
औ' बोल रही—आनन्द रहित मानव जीवन अभिशाप एक
आनन्द मनुजता की नैसर्गिक तृप्ति स्वयं
अभिलाषा का साधना कक्ष आनन्द प्राप्ति !

आदेश-मार्ग से व्यास पुत्र आये भीतर
आते ही वन्दन किया नृपति को प्रथम बार
पर हुआ घोर आश्चर्य देख कर राग दृश्य—
क्या यही जनक हैं वैरागी, संन्यासी, तपसी औ' महर्षि ?

सौन्दर्य वक्ष पर क्या कठोर साधना हस्त भी है सम्भव ?
मानव का पतन पतित कर्मों से होगा ही !

जिज्ञासा के गतिमय रथ पर द्रुत ज्ञान सारथी बैठ गया
मन के प्राणों का पंथ ज्योति से चमक उठा
औ' व्यास पुत्र शृंगार स्नात अति मग्न जनक की
आँखों को देखने लगे
जो खुली प्रभात कमलिनी सी धीरे-धीरे मधु मदिर अलस
संगीत लिये
बोले वे—तुम हो कौन वत्स ?
औ' व्यास पुत्र ने अभिलाषा की सुरभि उड़ा दी एक बार
उत्तर के गृह में सप्त दिवस फिर पड़े रहे
सुनसान प्रतीक्षा-द्वार खुला ही रहा नेत्र की पलकों पर !

उस दिन सन्ध्या में मेघ उमड़ कर चले गये
बिजलियाँ चौंक कर लुप्त हो गई, जलदारण्य सघन मग में
रजनी की माया चन्द्रकलश लेकर आई
उन्मत्त पवन हिलकोरों मे फूलों की भाषा दौड़ पड़ी
कामना-रागिनी व्याप्त हो गई सभी ओर
औ' निद्रित उस एकान्त अतिथि के प्राणों पर
सुन्दरता की झंकार एक हो गई खड़ी
सपने में जैसे एक सुन्दरी आ पहुँची आवरण-हीन
पतझर की नंगी डाली में ही फूल खिल गये गुच्छ-गुच्छ
सुन्दरी स्वप्न के फूलों की पंखड़ियों पर सो गई तनिक
फिर उठी तुरत अँगराती-सी, कुछ मन्द-मन्द यों गाती सी
उल्लसित नृत्य की छाया में, भावना-कोकिला कूक रही
चाँदनी नदी बह रही रात के जीवन पर

यौवन की अन्तर-प्यास निकल कर दूर-दूर तक फैल गई
आया प्रभात का परिवर्तन
हो गया शेष मोहक नर्तन
तम रहित ज्ञान जागा सहर्ष
पहुँचे शुकदेव विदेह निकट !

विनयानुकूल जिज्ञासु खड़ा है रवि समक्ष
सम्पूर्ण चेतना देख रही है नयनों को
बोले विदेह—हे आर्य पुत्र ! बैठो आसन पर ध्यानमग्न
वे बैठ गये होकर प्रसन्न
बोले महर्षि—दीपक से होता दूर नहीं है अन्धकार
तम का विनाश होता है दीप जलाने से ।
इसलिये मनुज है दीप सदृश
मानवता है उसका प्रकाश
मानव के सर्व-गुणों का कर्म-प्रवाह मनुजता का
जीवन है व्यास-पुत्र !
वासना हरण जो कर लेता वह है विमुक्त
करता संचय चेतना वही तो है योगी
अनुभव से विद्या पाना ही है महा ज्ञान
उपदेश और चिन्तन से कर्माचरण श्रेष्ठ है धरती पर
आचरणहीन ज्ञानी असत्य का दानव है
सचमुच गृहस्थ का जीवन दुस्तर है योगी, संन्यासी से
इसलिये सफल मानव है महा तपस्वी अपने जीवन का
साधक है वह जो कर्म-मध्य में मुक्त रहे
है त्याग वही जिसके सम्मुख आये न स्वार्थ
औ' बिना त्याग से प्रेम नहीं मिलता जग में

है दया और कल्याण जहाँ, है वहीं प्रेम
है साम्य जहाँ, है न्याय वहीं !

शंका की आँधी उठी एक मानस-वन में
उर के समुद्र की लहर हो उठी अति चञ्चल
जिज्ञासा की नौका डगमग हो उठी तुरत
तब मन का नाविक बोल उठा—राजर्षि जनक !
क्या मुक्त मनुज भी नृपति नीति का संचालन कर सकता है ?
चिन्तना रहित हो नृपति मुक्त मानव, यह भी सम्भव है क्या ?
हँसकर विदेह ने कहा कि हाँ, यह सम्भव है
जैसे वन के संन्यासी को भी किंचित चिंता रहती है
शौचादि और मृग चर्मों की
मैं उसी तरह संचालन करता हूँ भू का
है जहाँ सत्य औ' न्याय वहाँ चिंता ही क्या ?
नैसर्गिक बाधाओं से चिंतित हो जाते हैं मन्त्रीगण
औ' सत्य-चिन्तना तो मानव का चरम ध्येय !

शुकदेव हो गये मौन
किन्तु सन्तोष विटप की नवल डाल पर एक कोकिला कूक उठी
हिल गये गुच्छ के गुच्छ फूल
जब तृप्ति हवा बह उठी वसन्ती गति लेकर
आनन्द द्वार खुल गया प्राण के मन्दिर का !
दूसरे दिवस,
निर्मल प्रभात आया जब बीती रजत रात
छलकी सोने की किरण सरोवर के मन पर
निकले विदेह गम्भीर, धीर शुकदेव संग

सेवक ने व्यास पुत्र के कर में स्वर्ण पात्र रख दिया एक
अज्ञात प्रश्न विस्मय का खड़ा रहा उर पर
बोले विदेह——हे व्यास पुत्र !
तुम आत्म ज्ञान के पूर्व नगर का भ्रमण करो
संयम से रखना स्वर्ण पात्र
देखना कहीं छलके न क्षीर
यदि एक बून्द भी गिरा
ज्ञान दूँगा न तुम्हें
इसलिये पात्र पर ध्यान सदा रखना पथ में
अवलोकन के हित दो प्रहरी भी जायेंगे
यदि एक बून्द भी गिरा दुग्ध
ये तुरत लौट कर आयेंगे
इसलिये रहो प्रिय सावधान
इस कठिन परीक्षा से निकलेगा ब्रह्मज्ञान
तुम हो महर्षि के पुत्र
न भूलो मेरा यह आदेश-सूत्र
पथ पर जाओ
भ्रमणोपरान्त सम्मुख आओ
इच्छानुकूल सब कुछ पाओ
जाओ जिज्ञासा के यात्री,
यह रात्रि नहीं, दिनमणि की किरणें फैल चुकीं
आँखों को रवि-आलोक शक्ति है मिली हुई
यात्रा को सफल करो यात्री !

मन पर प्रसन्नता जाग उठी

अनुशासित चरण बढ़े पथ पर धीरे-धीरे
पग-पग पर बाधाओं की अलका उतर रही
झंकार उठ रही नूपुर की
सुन्दरता की किन्नरियाँ घेर रही मन को
जीवन को रोक रही बाहें
युवती यौवन की लता हिल रही कहीं-कहीं
काँटे, कलियाँ, आकर्षण की हिलकोर, झकोर समीरण के
उन्नत उरोज सौन्दर्य, कपोलों के इंगित
नयनों की मधुर पुकार, द्वार के रूप ज्वार
उपहार मनुज कामना पूर्ण, सब व्यर्थ हो रहे हैं पथ पर
ये स्वर्ग दृश्य आते न दृष्टि में एक बार
दुर्बलता के उदगार, प्यार, संसार सभी लज्जित होते !

प्रहरी मन हो मन अति प्रसन्न हो रहे परीक्षा के क्षण में
वह स्वर्ण पात्र देखता सफलता की शोभा
इतने में अति चंचल रमणी
गगरी लेकर हो गई खड़ी
आँचल सँवारने लगी डगर पर रुक कर ही
पर चरण रूप की लहर पार कर बढ़ निकले !
नौका के तट पर आने के पहले फिर ज्वार उठा सहसा
सुन्दरता की पद्मिनी स्नान कर रही प्रशान्त सरोवर में
सौन्दर्य-पाटली पहन रही है नील वस्त्र
पर चित्त शान्त !

यात्रान्त काल में आग लगो

झोपड़ियाँ जलने लगीं तुरत
वह पर्ण कुटी भी जलती है जिसमें विदेह ।
भीषण कोलाहल हुआ
ध्यान टूटा सहसा
औ' चौंक उठे प्रिय व्यास-पुत्र
कर काँप गये
हिल गया दुग्धमय स्वर्ण पात्र
पर एक बून्द भी गिरा नहीं !

आये विदेह,
बोले सहर्ष--हे तात, पात्र रख दो भू पर
तुम सफल रहे इस यात्रा में
पर बोलो तो, क्या-क्या देखा अपने पथ पर ?
क्षण भर शुकदेव हुए चिन्तित
रह गये मौन
फिर बोल उठे---राजर्षि, न कुछ भी देख सका
गुरुदेव, न कुछ भी सुना कहीं
मेरा तो केन्द्रित ध्यान पात्र पर रहा सदा
इसलिये हाय, कुछ देख न पाया निज पथ में
दो क्षमा दान,
पर हे महर्षि दो मुझे ज्ञान !
तब कहा जनक ने---व्यास पुत्र,
जीवन भी तो है एक पात्र,
संसार परीक्षा-गृह है सचमुच मानव का
प्रत्येक साँस है अमृत तुल्य

मिथिला में भ्रमण किया तुमने—
जिस तरह आज अति ध्यानपूर्ण
मैं भी रहता हूँ इसी तरह इस धरती पर
अन्तर के योगपूर्ण लोचन देखते प्राण के अमिय पात्र
यह जीवन-पद्म पंक से है अति दूर, दूर
है मन मृणाल पानी में भी
पर चेतनता की सभी पंखड़ी है विमुक्त
औ' आत्म सुरभि अति सूक्ष्म वायु में सदा व्याप्त
इस तरह देह में ही विदेह मेरा मनुष्य
है यही जनक का आत्म ज्ञान
है यही सत्य सम्मान प्रेममय जीवन का
मानव की अन्तर्दृष्टि यही
है यही सृष्टि की अमर ज्योति
आत्मानुभूति का यही प्रकाश चिरन्तन है !

संघर्षों से मत भागो हे शुकदेव कहीं
गृह के योगी वन के योगी से अच्छे हैं
एकान्त गुफा में एकाकी साधना सृष्टि
कोलाहल में तप करो, यही आज्ञा मेरी
सज्ञान व्यास ने भेजा है इसलिये तुम्हें मेरे गृह पर
जाओ जीवन को दीप्त करो जग के मग में
उत्सर्ग करो जीवन को कर्म-कठिन व्रत में
गति दो चरणों में, कर में हित की शक्ति भरो
विचरो सुख में, दुख में प्रसन्नतापूर्ण स्वयं

मत भागो बन में हे जीवन योगी अधीर
पीर को सहो,
शरीर जला दो अन्तर ज्वाला में
जाओ यात्री जीवन पथ पर ...... ?

पञ्चम सर्ग

बीते वर्षा के तीन बरस धीरे-धीरे
जैसे दुख के दिन जल्दी नहीं बीतते हैं
मानव पीड़ाओं की शय्या पर सो-सो कर
आँखों के अश्रु पोंछते हैं थर-थर कर से
चिन्ता की चिनगारी उड़ती रहती प्रतिपल
वेदना निकलती है कराहती साँसों से
मन ऊब-ऊब कर आकुल व्याकुल हो जाता
जब औषधि से कुछ लाभ नहीं हो पाता है
मस्तिष्क वैद्य का हो जाता है स्तब्ध मौन
आश्चर्य आवरण लिए मृत्यु जब आ जाती
उस समय न जाने क्यों मानव कह उठता है
हे ईश्वर ! तू ही बचा मुझे
उपचार सभी हो रहे व्यर्थ नर-साधन के
हे सीमाहीन ! सुरक्षा कर इस जीवन की !

औ' कभी-कभी
झाँकती हुई भय भरी मृत्यु
उड़ जाती छू कर शयन-द्वार
आदमी दूसरी करवट ले चंगा हो जाता चुपके से
औ' वैद्य सोचने लग जाता भीतर-भीतर
भ्रमपूर्ण दार्शनिकताओं से घिर जाता है

लेकिन असत्य के मुख से वह कह देता है
यह मेरी स्वर्ण सफलता है अत्यन्त कठिन !
पर कभी-कभी प्रार्थना सत्य को घेर लिया करती स्वर से

मिथिला में घोर अकाल पड़ा
बीते पावस के तीन बरस
घिर सकी नहीं नभ में बदली
मेघों की छाया भी न दिखाई पड़ी कहीं
सुन सका न कोई भी असाढ़-सावन-गर्जन
भादों की आशाओं की घटा नहीं उमड़ी
गर्मी की आँधी उठी सूर्य-मंडल-गृह से
आकाश आग-सा तपा किरण-कोलाहल से
अंगार पिघल कर धरती पर दौड़ता रहा
मिट्टी के कोमल अंग-अंग फट गये सभी
नदियों के जल सूखने लगे धीरे-धीरे
पोखरियों का पानी गर्मी ने सोख लिया
केवल कूएँ में नीर शेष !

औ' अन्न ?.......
है चारों ओर पुकार एक दुर्भिक्ष ! भूख !
अति दूर-दूर से अन्न आ रहे हाथी पर—
बैलों पर बैलगाड़ियों पर
बालुका देश से ऊँट आ रहे हैं लदकर
जिस तरह वर्ष का पहला मेघ बरस कर द्रुत
धरती में हो जाता विलुप्त
उस तरह अन्न आते, हो जाते हैं विलीन।

मिथिला के अन्नागार शेष
करते न जनक हैं अन्न ग्रहण
उपवास—महीनों से केवल उपवास हाय,
सम्राट स्वयं भूखा सच्चाई के गृह में
बस यही एक सन्तोष प्रजा के प्राणों में !

फिर भी अकुलाती राज भक्ति
आते जन गण, कहते नृप से——
व्रत का बन्धन तोड़ें नरेश
जन के नयनों में अश्रु-सिन्धु
अब कोई भूखा नहीं मर रहा है भू पर
मरने वाले मर गये भूख की छाया मे
पत्ते भी खाने पड़े परिस्थिति में आकर
पर प्रिय विदेह गम्भीर शान्त
योगानुरक्त, ध्यानावस्थित
है वाह्य रूप किंचित विचलित
पर अन्तरतर अति आलोकित !

आती अकाल के संग क्रान्ति
जीवन प्रशान्ति के प्रश्न और उत्तर लेकर
मिथिला से निकलेगी किरणें
कर रही प्रतीक्षा यह मिट्टी——युग सोच रहा ।

भीषण अकाल में मरे सहस्रों मानव भी
जन-हाहाकार उठा ऊपर
कोलाहल से गूँजा अम्बर

इतिहास स्वयं आकर पूछने लगा नृप से—
"मैं लिखता हूँ यह भूख-सत्य
जो मृत्यु गरल से ओतप्रोत
मिथिला का प्रथम कलंक चिह्न यह है नरेन्द्र
योगी नृप के सम्मुख भी यह दुर्भिक्ष स्वप्न ?
यह घोर मृत्यु संगीत कहाँ तक जायेगा ?
सम्राट ! तुम्हारे जीवन का यह तिमिर-चित्र !
उत्तुंग हिमालय की छाया में यह अकाल ?
निर्झर का स्रोत यहाँ तक आ सकता था नृप
है प्रथम कर्म तब योग साध्य
सिंहासन के योगी ! पहले सिंहासन का सम्मान करो
तब करो तपस्या का आत्मिक आह्वान पूर्ण
यदि तप से जन बल नहीं हो सके स्वस्थ, स्वच्छ
तो यह तप निज तक ही सीमित रक्खो राजन्
सिंहासन को चाहिये प्रजा-आनन्द गान !"

हँस पड़े विदेह जनक सुनकर अन्तर-पुकार
जिस की ध्वनि पर इतिहास कर रहा था इंगित
लोचन में ले सत्याश्रु विन्दु के दो अगीत !

इतने में चाँद उगा नभ में
तारे भी खिले असंख्य नीलिमा के तट पर
लहराने लगा समीर लगाये शीतलता के मृदुल पंख
सूखे विटपों की नग्न डाल भी सिहर ठी
मिथिला में कोई फूल नहीं जो हिले-डुले

हाँ, कोयल कूक उठी सहजा निर्जन वन से
जिसमें न एक पत्ता भी लगा हुआ होगा !

रजनी गंधा की सुरभि आ रही मन्द-मन्द पूरब दिशि से
वह एक वृक्ष जो कूएँ के है निकट लगा
हरियाली का सौन्दर्य समेटे है निज में
दुर्भिक्ष काल में अपनी साँसें छोड़ रहा
यह कह कर—हे प्रिय नृप, जैसे तम में तारे भी हँसते हैं
अथवा घनघोर घटाओं में बिजली निज दीप जलाती है
मैं एकमात्र हूँ सुरभि कि जो इस बेला में ही फैल रही
प्यासे मानव के मुख से जो पानी गिरता
उससे ही सिंचित हुई एक पतली डाली
जिस पर मेरा अस्तित्व पंख फैलाता है !

आ गई सुनयना इसी समय
कहती अकाल के लिये यज्ञ करना होगा
भूगर्भ-शास्त्र के पण्डित मिट्टी शोध रहे
आयेंगे शीघ्र यहाँ अपना निर्णय लेकर
हे नाथ ! हाय, कंकालों का ही देश हो गई है मिथिला
मैं आज दूर तक निकल गई थी निज रथ पर
देखा मुर्दों का ढेर जहाँ गृद्धों के झुण्ड उतरते थे
देखी केवल हड्डियाँ कहीं जिनको कुत्ते थे चबा रहे
देखी मरघट की भी मिट्टी खोदते आज जिसको सियार
जाती कुछ दूर और लेकिन
सब अन्न हो गये तुरत शेष

कंकालों के समुदायों ने थे घेर लिये ।
सब चाह रहे हैं महायज्ञ
मिथिला के सारे पण्डित की भी यह इच्छा
हे आर्य ! एक वह दृश्य हाय कितना दारुण
माता अपने पाँचों पुत्रों को लिये गोद में रोती थी
देखा मैंने जाकर गृह में
थे सभी मृतक !
उस माता को मैं लेती आई हूँ सँग-सँग
उसके नयनों में निर्झर है जो बहता है अविरल गति से
उसके आँचल से मृत्यु अश्रु को चाट रही !

इतने में सत्तर हाथी आयें लिये अन्न
दो पीलवान हैं घायल लथपथ रक्त स्नात
बोले वे जंगल में दो व्याघ्र छड़प आये
लेकिन वे भाग गये जल्दी घायल कर ही
जब एक व्यक्ति ने तुरत मशाल जला डाला ।

इतने में फिर,
कंकालों के समुदाय महल तक पहुँच गये
पर तुरत हो गये वापस अति हर्षित होकर
इतिहास अचम्भित हुआ दृश्य यह देख-देख
पूछा समूह से—क्यों वापस जा रहे तुरत
उत्तर में यही मिला कि भूख मिट गई स्वयं !
विस्मय में वह इतिहास खड़ा है नृप-सम्मुख ।
बोले महर्षि—तुम रुको रुदन के सपने तक

ग्रह के मंगल संयोग उतरने वाले हैं।
फिर कहा कि रानी ! करो यज्ञ की तैयारी
मिथिला का संकट दूर करो आतुरता से !

बट वृक्ष एक सुविशाल, सुविस्तृत परती में है खड़ा व्याप्त
जिसके सम्मुख पीपल का जीर्ण विटप सूखा
सूखी सी एक पोखरी भी
औ' आसपास की लता बल्लरी भी सूखी
श्मशान समान प्रतिध्वनि की करुणा का भय
जिसके आँगन के ऊँचे टीले पर स्थित है—
शिव का मन्दिर अति जीर्ण-शीर्ण प्राचीन एक
दीवार ढह चुकी है, फिर भी घण्टा है लटका हुआ बड़ा
कोई न पुजारी वहाँ, युगों से शून्य, शब्द से हीन कक्ष
हैं खम्भ कला से पूर्ण, व्याघ्र अंकित गुम्बज
ऊपर त्रिशूल है स्वर्ण जटित
है ताम्र-पत्र से मढ़ा द्वार
है रजत-अंश भी कहीं कहीं।

भूगर्भ शास्त्र-पण्डित का रथ रुक गया यहीं
देखा सबने दो नीलकण्ठ उड़ कर आये
बरगद की ऊँची डाली से उस जगह जहाँ पर
ध्वस्त जीर्ण मन्दिर के तट पर एक ध्वजा स्थल बना हुआ
जिसके आगे कुछ दूर, सैंकड़ों श्वेत कपोत विचरते हैं
गाते हैं घुटुर-घुटुर गाने
कुछ कौए करते काँव-काँव

चिरईं, चुनमुन्नी भी उड़ती है फुर्र-फुर्र
उस एक जीर्ण कूएँ से आती हैं बगेरियाँ फुदक-फुदक
जिसके आगे बट के लम्बे शत सोर भूमि पर छाये हैं !

सन्ध्या होने में अभी बहुत है देर, सूर्य पश्चिम में है
है कितना लम्बा चौर चतुर्दिक क्षेत्रों में
अति दूर-दूर में सूखी तरु पंक्तियाँ खड़ीं
जिसके समक्ष है नदी बालुका की शोभा से चमक रही
है धुआँ उठ रहा मन्द-मन्द ऊपर केवल श्यामल उज्ज्वल
जल रही चिता कोई, दिन की ढलती सी आकुल वेला में !

मिथि-राज्य-पुरोहित शतानन्द ने कहा—
"यहाँ का भू विचित्र
युग-युग से शापित है धरती
यह एक मरुस्थल ही केवल
शिव का मन्दिर ही साक्षी है अति ध्वस्त जीर्णता के वय में
हैं मार्ग यहाँ के भग्न सभी
केवल उजड़ा-उजड़ा जंगल
उजड़ी-उजड़ी झाड़ियां यहाँ
टूटे-फूटे हत्ते युग से
दिन में सियार बोलते यहाँ
करते उलूक तरु पर क्रीड़ा—
बट की तम-छाया से रह-रह
भययुक्त प्रतिध्वनि आती है
रह-रह कर उठते हैं झोंके

होते रहते रव साँय-साँय
कुछ पत्ते भी झर जाते हैं
जब गोलाकार पवन उठ कर शत डालों से टकराता है !

पण्डित ने देखा इतने मे
वे नीलकण्ठ पंछी उड़कर फिर बैठ गये
कुछ दूर जहाँ पर मिट्टी कुछ-कुछ रक्त वर्ण
वह एक महा विद्वान कि जिसके चिन्तन में भी है रहस्य
लक्षित वसुधा की मिट्टी थोड़ी उठा-उठा
है बार-बार सूँघता उसे
सब आये उसी जगह क्षण में
देखने लगे इस मिट्टी को
जिसकी सुगन्ध में तीव्र शक्ति
सबने निर्णय कर लिया यज्ञ हो इसी जगह
या इस मिट्टी के आस पास
सब लौट चले अपने रथ पर !

हो रहा यज्ञ शास्त्रानुसार
ऋषियों के मेले लगे यहाँ
बन गया नृपति का महा शिविर
उपयुक्त लकड़ियाँ गिरी आम्र औ' चन्दन को
सुविशाल हवन का कुण्ड बना
कुश के सहस्त्र आसन आये
कदली, चिरपूत आम्र-पल्लव
गो घृत, अक्षत, मिष्टान्न सभी

काषाय वस्त्र, कम्बल, दीपक
सुमनादिक धूप, कलश तिल भी,
फल-जल सब वैदिक सामग्री ।
मन्त्रध्वनि से गूँजे दिगन्त
शंखादि बज उठे बार-बार
हैं ध्यान मग्न राजर्षि जनक ।
संलग्न यज्ञ में शतानन्द ।

हो रहा शेष अध्यात्मोत्सव
यज्ञान्त काल में नृप विदेह सम्पूर्ण दिव्यता लिये आज
जोतने लगे भू को हल से
ऊपर में एक घटा उमड़ी
भू पर हल से टकराया एक घड़ा, मिट्टी में गड़ा हुआ युग का
फूटा सुपात्र, निकली कन्या छोटी ज्योतित
गरजा वर्षा का प्रथम मेघ
राजर्षि जनक ने उठा लिया उस कन्या को
होंठों को चूम लिया सहसा
उज्ज्वल कपोल पर अश्रु-स्नात ममता लेकर
देखने लगे प्रिय मुख-मंडल
सौन्दर्यमयी बालिका अचानक उमड़ उठी निज नेत्रों से
रानी ने प्रथम पिलाया उर का अमिय-दुग्ध,
फिर एक बार हँस कर शिशु ने सम्मान किया
माता के अश्रु उमड़ आये निज नयनों में
वक्षस्थल में आनन्द-सिन्धु भर गया तुरत !

घनघोर घटा उमड़ी असाढ़ के आते ही
पावस की वीणा लगी बिजलियों को छूने
ज्वाला से जब जल उठा गगन
धरती पर करुणा का समुद्र छा गया स्वयं
तब तक अभाव में क्रान्ति शंख फूँकती रही
औ' कर्म जलाता रहा अग्नि मानव-मन में
विश्वास प्रार्थना के फ़ूलों को रहा देखता बार-बार
चेतना भूमि कोड़ती रही निज हाथों से
औ' इसी बीच उतरी आशा
जीवन की आभा फैल गई
देखी विदेह ने शक्ति-ज्योति
मानव के वन में हरियाली छाई नूतन
निकली मिट्टी से भू-कन्या
फूटा प्रशान्त संगीत एक !

षष्ठ सर्ग

रेशमी वस्त्र में अति गर्वित व्यक्तित्व लपेटे
कौन आ रहा मिथिला में ?
मोटा शरीर पर छोटा-सा सिर व्यंग्य कर रहा है निज से
श्यामल ललाट पर अहंकार का एक तिलक है लगा हुआ !
वैसी ही उसकी मूँछ पूँछ सी शोभा अपनी बढ़ा रही
औ' नाक !
बचपन में जैसे काट लिया हो छूरी से निष्ठुर अरि ने
दाँतें इतनी लम्बी कि युगल आँखें देखती उन्हें प्रतिपल
यदि एक हँसी निकले मुख से तो आकृति सुन्दर बने और
रथ पर बैठा आ रहा मनुज का कुशल रूप !
जिसकी साँसों में क्रोध ले रहा खर्राटा
निद्रित नयनों के आँगन में हो रही सुरा की मधुर वृष्टि
यदि चतुर सारथी रहे सचेष्ट न उसके प्रति
तो झपकी लेते-लेते ही वह गिरे
और वे तीन दाँत जन गज के सहसा जायें टूट !

दोपहरी का है समय
उष्णता के मस्तक पर आँधी पंखा झेल रही
कुछ पानी भी पी रही घटा से माँग-माँग
आकाश लाल-पीली आँखों से भू को देख रहा प्रतिपल
सारथी रोकना चाह रहा है घोड़े को

उस बरगद के सुविशाल विटप की छाया में
जिसके नीचे कुछ घोड़े रुके हुये भी हैं
दो चार बकरियाँ भी बैठी हैं एक ओर
कुछ गधे चर रहे हत्तों की हरियाली को
कुत्ते भी एक मरे कौए को नोच रहे उस टीले पर।

आई आँधी पानी विहीन
हो गया धूल का अन्धकार
उन्मत्त प्रभंजन के झोंके खेलने लगे तरु पुंजों से
सारथी अश्व को रोक रहा
वह व्यंग्य प्रधान मनष्य धूल से हुआ विकल
डालियाँ टूटने लगीं तुरत उसके सम्मुख
घोड़े आपस में लगे जोर से चिल्लाने
पिछले पावों को लगे फेंकने इधर-उधर
भय की चिनगारी लगी निकलने प्राणों से
हो गई शेष भीषण आँधी
सारथी हाँकता रहा स्वरथ !

आई मिथिला की प्रिय नगरो
निर्मल कितनी चिकनी डगरी
सब देख रहे हैं उस रथ को
बैठा है जिसपर चित्रित नर
उड़ रहे हंसी के कोलाहल
जिनको सुनता सारथी लिये मुस्कान मधुर
पर वह मानव

क्रोधाकुल दाँतें पीस रहा भौहों को ऊपर चढ़ा-चढ़ा
औ' पढ़ता है वह एक पत्र उस मुद्रा में ही गर्व लिये
पोछता ललाट-पसीने को जिसमें उसकी उष्णता छिपी
वह इधर-उधर भी ताक रहा
पर झेंप रहा उत्तेजित लज्जामय दृग से
फिर भी उसकी उत्सुकता मिथिला की शोभा को देख रही
जैसे नव वधू देखती है घूँघट से अपने प्रिय पति को !

सम्राट जनक को मिला पत्र
वह राजदूत आया है राज-भवन में भी
जिसको देखते सभासद दल मुस्कान भरी आँखों से ही
वह बैठा है अपने सिर पर अभिमान गृद्ध के पंख खोल
वह पत्र एक अंगार कुसुम
सांकाश्य नगर पति नृपति सुधन्वा का ही तो
जो माँग रहा है महाजनक से सीता को
शिव के उस महा धनुष को भी जो युग-युग से है रखा हुआ !

हँस रहे विदेह उसे पढ़ कर
कहते हैं मुक्षक (राजदूत) से हँस कर फिर
हे दूत ! मनुज की भौतिक प्रभुता लोभपूर्ण
वैभव के जलते अहंकार की ईर्ष्या भी
जब तीर छोड़ती कभी सत्य के प्राणों पर
वह जल जाती है स्वयं प्रतिध्वनि अग्नि लिये
इसलिये कहो जाकर अपने नृप से सत्वर
सीता विदेह की कन्या है

जिसमें मिथिला की सर्व प्रतिष्ठा शोभित है
वह अपनी जिज्ञासा को भस्म करे द्रुत ही
अन्यथा पतन की नाव सिन्धु में डूबेगी !
औ' धनुष ?
सुधन्वा इसको कहाँ रखेगा भी
यह तो चरित्र-गृह की, शोभा ज्योतिर्मय है
मैं देने वाला कौन जटाधर का धन्वा
यदि आत्म शक्ति है उसे
स्वयं माँगे शिव से ।

इतनी ही अपने नृप से कहना बात दूत !
यदि अधिक कहोगे कुछ भी तो
प्रिय, दूत-प्रतिष्ठा गिर जायेगी आत्मा से
वह दूत जो कि रहता असत्य की छाया मे
वह नीति-पतन का स्रष्टा हो जाता जग में
नृप भी शंका की बदली में घिर जाता है
जब वह झूठी बातों का विपिन लगाता है
तुम आये हो इस मिथिला में
साधारण ही सम्मान हुआ
यह धरतो सीधी सादी है फल फूल लिये
प्रिय तीरभुक्ति तो धानों का ही एक देश
कौशिकी, गंडकी गंगा की इच्छित रेखाओं के भीतर !

वह दूत महल से निकल रहा
दो प्रहरी उसके साथ-साथ हो जाते हैं

उस राज मार्ग पर एक साँढ़ दौड़ा आया
लग गई तनिक ठोकर सुदूत को अनायास
बेचारा क्षण भर गिरा रहा
उस जगह जहाँ पर गोबर का था एक पिण्ड
जिसमें चादर का एक भाग सट गया स्वयं
कुछ ओह-आह के साथ उठा वह क्रोधाकुल
लज्जा ने सारी व्यथा भुला दी गिरने की
रथ पर सगर्व वह बैठ गया
गिलहरी -मूँछ पर एक हाथ सटता जाता !

सांकाश्य नृपति ने युद्ध घोषणा की सगर्व
मिथिला को घेर लिया उसकी सेनाओं ने
सुविशाल सैन्यदल जमा हो गये जहाँ-तहाँ
शत-शत घोड़े हाथी रथ जमा हुये आकर

लेकिन विदेह विश्रान्त, मौन
सोचते—"युद्ध है गर्व अग्नि
जो जल उठती प्रभुता समक्ष
यह मानवता की दुर्बलता का घृणित चित्र
ईर्ष्या के पापों का केवल विस्फोट ध्वंस
यह स्वार्थ भरा अति सुगम मार्ग
जिस पर अन्धी कामना ढालती गर्व-सुरा
उस अहंकार के लिये जो कि साम्राज्य भिक्षु !
आदमी नहीं दानव का ही अति तिमिर रूप है महायुद्ध
मानवता की ध्वनि सुखद शान्ति
कल्याण-घटा मुस्कान-चाँदनी जहाँ व्याप्त

बाँसुरी फूल के हिम कण को करती तानों से स्निग्ध तरल
ऊषा की अमिय किरण जिनको चुपके से स्वयं उठा लेती !
स्वर्णिम प्रभात की छाया में कर्मोदय की अभिलाषा से
मानव का साम्य हृदय उज्ज्वल शीतल प्रबुद्धि से मिल जाता
जीवन का जीवन से परिचय होता रहता प्रेमाश्रु लिये
जब शान्त सान्ध्य समतानिल दीपों की लौ को
कहता, तुम जलो सुखद सिहरन लेकर विकास प्रतिमा समीप
सम की उदारता की किरणों की भावात्मक सुषमा लेकर
तब धरती सत्य बटोरेगी मानवता की हरियाली से !

मानवता !
मानव का केवल सौन्दर्य सत्य शिव-गन्ध युक्त
मानवता यदि विभ्राट सिंधु
मानव असंख्य लहरें उसकी जो उठ-उठ कर होती विलीन
सम के समस्त विस्तृत पथ पर
नित जन्म-मरण सङ्गीत लिये

लेकिन मनुष्य,
भौतिक प्रमाद में लोभ सृजन करता जत्र-तत्र
अपनी छाया में लाखों को रखता भूखा
शोषण प्रवृत्ति का जाल फेंक
ढंक लेता प्राणों के खग को
उन्मुक्त परों को काट स्वार्थ के पिंजरे में
कर देता है जब बन्द——
अरे, वह मनुज नहीं, मानव का केवल महाशत्रु
जिसका विनाश मानवता का कर्त्तव्य परम

उद्देश्य, महा उद्देश्य प्रथम !
अध्यात्म न शोषण-स्वप्न
एक उन्मुक्त मनुजता की पुकार
अध्यात्म सृष्टि-साम्योत्कर्ष-संगीत-सत्य का ज्ञान सूक्ष्म
जीवन-रहस्य-वन्दना-पुष्प का सुरभि-चित्र
जो आत्मानन्द-तूलिका से केवल निर्मित
अध्यात्म गगन के लिये नहीं
इस मिट्टी के हित ही तो है !

यदि गगन धरा पर उतर सके साधन-बल से
तो उतरे यह घन के समान कल्याण लिये !
आकाश !
एक आवरण नील दृग के भ्रम का
अन्यथा शून्य है, महा शून्य पर ज्योतिपूर्ण
जिसका केन्द्रस्थल स्वयं सत्य जिसकी छाया भू पर हँसती
जब मानव एकाकार ज्योति को पा लेता मानवता में
है यही लक्ष्य,
संगीत चरम अभिलाषा का !
औ' भौतिकता ?
जीवन-विधान-कर्त्तव्य-साम्य का ही शरीर
जो साँस-सुरक्षा के हित ही
जिसका सुलक्ष्य सत्योदय को परमात्म-ज्योति
औ' यही खोज अध्यात्म-रूप
जिसकी सुगन्ध मानव-चरित्र की निर्मलता का चिर विकास !"

मिथिला पर क्यों आक्रमण किया गर्वित नृप ने

लेकर सेनाओं का समुद्र
मिथिला में सेना कहाँ यहाँ !
अंगार नहीं, शीतलता स्वयं विचरती है

क्या करूँ आज
है युद्ध एक अपमान-कार्य
संसार कहेगा जनक युद्ध कर रहा हाय,
यह तो विदेह की निन्दा की है बात एक
लेकिन यह कायरता मेरी
तोड़ूँ कैसे सुरभित स्वतन्त्रता-फूल स्वयं ?
सहलूं कैसे अन्यायी का हिंसक प्रहार लेकर मनुष्य का कर्म-रूप?
मैं स्वयं अहिंसा का पूजक
पर चाह रहा है अरि हिंसा का युद्ध यहाँ
जनगण-रक्षा का एक प्रश्न मेरे सम्मुख,
है खड़ी परिस्थिति सत्य लिये
मैं मौन, युद्ध-स्वीकृति देकर
करना होगा संग्राम मुझे
सेना लेकर
लड़ना होगा युद्धस्थल में ले धनुषबाण-तलवार तेज
जन-गण के हित के लिये स्वयं !

पर हाय, कहाँ से मैं इतनी सेना लाऊँ ?
वह स्वस्थ सुधन्वा महाबली है सेना का
देवता मुझे दे सकते हैं
चतुरंगिणि सैन्य तपस्या से !
मिथिला रक्षा कर सकती है अपने तन की ।

तन की रक्षा मानव का पहला प्रथम कर्म
तब मन की मर्यादा भी शोभा पा सकती
औ' तब आत्मा का चिंतन भी विकसित होता
है तीर मृत्यु के लिए नहीं, जीवन-रक्षा के लिए यहाँ ।

घनघोर युद्ध प्रारंभ हुआ
दुन्दुभी बजी, संग्राम-वाद्य के साथ-साथ
शंखध्वनियों से गूँज उठी नभ-दिशा अरुण
शत-शत तलवारें म्यान-म्यान से निकल गईं
तरकस से तीर निकलने लगे सहस्र तुरत
भाले-बर्छों में रक्त लग गये मानव के
वीरता अश्व पर गरज उठी
रथ पर पौरुप-जय-घोष हुआ
गज से गर्वित गर्जना हुई रण-वाद्यों की
घनघोर युद्ध की घटा अनगिनत विद्युत-खड्ग लिये चमकी
भीषण रव से काँपी धरती
रक्तिम कोलाहल चीख उठा
क्रोधाग्नि-लपट उठती प्रतिपल
जीवन से जीवन टकराते
यौवनोन्माद पी रहा सुरा
चेतना-हीन मानव-प्रबुद्धि अंगार उगलने लगी स्वयं
युद्धान्ध पुरुष खा रहे अग्नि-मिष्टान्न विविध
पी रहे रुधिर का उष्ण नीर
वक्षस्थल में लगते भाले
बिंधते गर्दन में तीव्र तीर ।

सीरध्वज करते हैं प्रहार
नृप जनक-युद्ध धर्मानुकूल
लेकिन विदेह का अन्तरतर आलोकपूर्ण
युद्धस्थल में भी दूर रक्त-कोलाहल से
हो रही कर्म की छाया में यह समर-सृष्टि
हो रही परिस्थिति के आंगन मे बाण-वृष्टि
पर सूक्ष्म दृष्टि, शुभ्रता-साधना-अनुरंजित !

जन-सैन्य-हिरण को कटवा कर
वह व्याघ्र सुधन्वा गिरा भूमि पर एक बार
चतुरंगिणि सेना जब टूटी उस पर सहसा
वह मृत्यु-लपट से जला, रक्त से हो लथपथ
उस समय जनक ने कहा यान मे उतर स्वयं--
है युद्ध सृजन के लिये, नहीं संहार-हेतु
मानवता का यह घृणित स्वप्न
है अस्त्र ध्वंस के लिये नहीं
कल्याण-कल्पना के हित ही !

उस समय सुधन्वा ने विदेह के चरणों को छू लिया स्वयं
उसकी आँखों में करुणा के दो अश्रु खिले
जिनमें समस्त चेतना छिपाये थी पीड़ा
वह एक बार मुसका कर आया वहाँ
जहाँ पर जीवन की साँसें हो जाती हैं विलीन,
आदमी मात्र शव हो जाता है धरती पर !

सांकाश्य नगर के सिंहासन पर बैठ गये नृप जनक-अनुज

जन हर्षित हुए कुशध्वज सा पाकर नरपति
उस दिन से होने लगी प्रेम की वर्षा जलती धरती पर
मानव-मानव का भेद मिट गया स्नेह-घटा के आने से
जिस तरह कि पावस में सारी हरियाली हो उठती प्रसन्न
जब मेघामृत झरते झर-झर सम-सृष्टि लिये !

सप्तम सर्ग

पुष्पित-उद्यान-निकुञ्ज-कला-गृह में बैठी
सीता, श्रुतिकीर्ति बनाती है कल्पना-चित्र
तूलिका छू रही इन्द्रधनुष की वह शोभा
जिसके नीचे कोई पनिहारिन सघन लता की छाया में
अपनी गगरी को रख कर प्रिय-चिन्ता करती
सुधि-स्नात अश्रु-यूथिका-कली/
दोनों कपोल पर दो मीठी थपकियाँ लगा
कहती है उस कोयल से---अब मत कूक यहाँ
अपने वसन्त को ले जा दूर-सुदूर देश !

लेकिन पीछे वन के टेढ़े-मेढ़े पथ से
आ रहा कौन विद्युत-गति से
जिसकी परछाईं अति लम्बी संध्या की स्वर्णिम वेला में ।
आ रहे जिस समय विहग वृन्द पाँखों पर लेकर उत्सुकता
बाँसों के वन में खोते पर कर रही प्रतीक्षा प्रिय विहगी
आकुल कंठों में यौवन की संगीतमयी वाणी लेकर !
यह प्रथम चित्र श्रुतिकीर्ति-रचित;

द्वितीय---
एक ऊँचे पर्वत पर खड़ी एक नव-वय तरुणी
जिसका आँचल उड़ रहा पवन के झोंके से

कज्जल बादल का एक गुच्छ विद्युत की पतली डाली पर
दक्षिण कोने से खिला हुआ कुछ कहता है
बक-पंक्ति जहाँ से मुड़ी जा रही पश्चिम में
जिसके नीचे सरिता की शुभ्र प्रशस्त धार
लहरों को ऊपर उठा रही हिलकोरों से
औ' एक नाव जिसमें उजला-सा पाल लगा
आ रही इधर डगमग करती।

उस पार एक शिव-मन्दिर है सुविशाल भव्य
गिरि-धवल श्रेणियाँ भी छोटी-छोटी हँसतीं
लम्बी-लम्बी लहराती-फहराती विटपी
दक्षिणी धरा का रूप दे रही दर्शनीय
जिसके अंचल में द्राविड़ की सभ्यता खिली
शिव और शक्ति की शोभा मिली हिमालय को
यह चित्र जनक की एक कथा की छाया है
जिसमें उत्तर-दक्षिण के हैं संगीत छुपे
शिव-विष्णु-कल्पना-मिलन-सत्य की छवि जिसमें
कल्याणमयी गौरी-लक्ष्मी-आत्मोत्सव-ध्वनि !

तीसरा चित्र उर्मिला स्वयं लेकर आई
जो चम्पक की प्रिय छाया में थी बना रही
यह चित्र बाल युवती का है
अरुणिम सुहाग के फूल खिले हैं प्राणों पर
एकान्त कक्ष में चुपके दीपक जला रही
पर मृग-नयनों से देख रही है, एक द्वार जो तनिक खुला
कुछ मेघ दिखाई पड़ते हैं वातायन से
बैठी है एक कपोती भी उसके सम्मुख

धुँधले प्रकाश में जिसका उजलापन भी लगता पीत वर्ण
है रिक्त अरुण शय्या जिस पर कर रहा प्रतीक्षा एक हार !

देखने लगीं तीनों बहिनें तीनों चित्रों को एक साथ
इतने में प्रिय माण्डवी वहाँ आकर बैठी
औ' वीणा में गूँजने लगी संगीत-कला
स्वर ने दो हिरणी को लहरों से खींच लिया
दो गाएँ भी आकर बैठीं चरना तज कर
कुछ तोते भी पतली डाली पर बैठ गये
दो-तीन बकरियाँ भी बच्चों के साथ वहाँ आ गईं तुरत
शीतल समीर के हिलने से कुछ फूल झरे उस वीणा पर
सीता की वेणी पर भी दो पंखुड़ी झरीं उजली-पीली
मंजरियों की उन्मत्त सुरभि बाँधने लगी मन-प्राणों को
कूकती कोकिला कहीं-कहीं रह-रह वन में
उद्यान वसन्ती फूलों से अति शोभित है
अलि के दल भी उड़ते हैं कुञ्ज-निकुञ्जों में ।

वह एक विकल मधुमक्खी आकर बैठ गई
उर्मिला-कर्ण के आसपास
कोमल कपोल पर उसने किंचित गड़ा दिये दो विकट दन्त
उर्मिला मसलने लगी उँगलियों से पीड़ा
वह चञ्चल-सी हो उठी तनिक
सीता से कहा कि देखो तो कीड़े ने काट लिया मुझको !
उसने झट एक हरी पत्ती के रस को उस पर लगा दिया ।
वह एक मृगी जो देख रही थी यह घटना

आ गई उर्मिला से मिलने
चाटने लगी उस पीड़ा को कोमल जिह्वा से मन्द-मन्द
अपनी आँखों को मूँद-मूँद
उर्मिला उसे गोदी में ले
चूमने लगी कोमल मुखड़ा
औ' वह हिरणी सो गई स्नेह के आँचल में धीरे-धीरे !
पर एक तार वीणा का टूट गया सहसा
वह एक बार उछली, उपवन में भाग गई !
उसके पीछे उसकी संगिनि भी चली गई।

माण्डवी तार जोड़ने लगी धीरे-धीरे
सीता ने उसका साथ दिया
पर कसने में फिर एक तार टूटा सहसा
चारों बहनें खिलखिला उठीं तब एक बार।

माण्डवी बीन को करने लगी प्रणाम तुरत
बोली श्रुतिकीर्ति उठा कर अपना हाथ एक—
"हो पूर्ण कामना देवि ! तुम्हारी वीणा को !"
सीता ने मीठी थपकी से दी एक हँसी
जो अट्टहास में बदल गई नव नाट्य लिये !
उर्मिला रोकती है अपनी मुस्कान मधुर
पर हर्ष-विहंगिनि बैठी है उस होठ-नीड़ की छाया में
माण्डवी उड़ाती है जिसको गम्भीर-भाव के इंगित से
पर सीता उस विहगी को पुनः पुकार रही
अपनी उत्सुकता की वसन्त-हरियाली पर
लेकिन क्षण-भर में स्वप्न-नीड़ हो गया रिक्त !

सूचना मिली इतने में महा जनक ऋषि की
विश्रान्त सरोवर में नौका पर आज एक होगी गोष्ठी
जब एक पहर बीतेगा ऋतु-पति-रजनी का
चन्द्रमा जिस समय ज्योत्स्ना से होगा सत्कृत !

चाँदनी पंख को खोल वसन्ती अवनी पर
नीलिमा-नीड़ में बैठ गया उन्मुक्त चन्द्र
झिलमिल जल पर सुन्दर नौका तैरने लगी
सीता अपनी बहनों के सँग बैठी जिस पर
सुन रही जनक की चर्चायें——
जीवन शशि है,
जो स्निग्ध चाँदनी की शीतलता देता है
कहता है मानव-लक्ष्य शान्ति !

जीवन रवि है,
जो ज्वलित रश्मि देता जग को
औ' कहता है मानव का जीवन एक ज्योति
जो स्वर्ण जागरण दे जग को !

जीवन पावस है, जो कि भूमि को देता जल,
कहता है, मानव-लक्ष्य एक कल्याण-वृष्टि
जो जग को हरा-भरा कर दे !

जीवन वसन्त है, जो भू को करता नवीन
कहता है, मानव जीर्ण नहीं हो नित नूतन
जो परिवर्तन के फूलों से दे सुखद-स्वप्न

जीवन है विरह-मिलन-संगम
जीवन है सुख-दुख का वयार
जीवन प्रभात, संध्या भी है
जीवन है आधी रात और उज्ज्वल दिन भी
जीवन समुद्र है, सरिता है, विश्रान्त सरोवर भी तो है,
जीवन है एक कली खिलती,
जीवन है एक फूल झरता,
यह जीवन है मुस्कान एक,
है एक अश्रु,
जीवन बादल है, बिजली भी......!

उर्मिला पूछने लगी—
"किन्तु, जीवन क्या है इस धरती पर ?"
मुसका कर बोले फिर विदेह—
जीवन सब कुछ है धरती पर
पर जहाँ सत्य है वहीं मनुज के जीवन का आलोक खड़ा
जो देता है सौन्दर्य मरण को भी जग में
कल्याण-सुरभि-संगीत-सृष्टि की छाया में
उठती है लहर परिस्थिति की जीवन-समुद्र में जब भीषण
कर्त्तव्य-नाव हिलती-डुलती पल्लव-समान

पर इसी समय चेतना प्राण की कहती है—
यात्री, तुम आगे बढ़ो बुद्धि के बल से ही
चिन्ता न करो तूफानों की अपने पथ पर
निर्भयता में पुरुषार्थ और कायरता में हैं महा पतन
जीवन का चित्र चरित्र स्वयं

साधना-योग सब कुछ चरित्र के लिये यहाँ
आचरण शुभ्र संगीत स्वयं मानवता का
कल्पना ज्योति के लिये, तिमिर के लिये नहीं
रचना असत्य के लिये नहीं, है सत्य-हेतु
वंदना-प्रार्थना निर्मलता के लिये--
स्वार्थ की सुन्दरता के लिये नहीं
मानव शरीर के सुख से सदा अपूर्ण रूप
आत्मा के सुख से ही शोभित परिपूर्ण मनुज
सम्पूर्ण मनुज दोनों सुख से ही बनते हैं !
देवत्व प्राप्त होता है द्वय सुख-संगम पर।

पर ऐसे भी मिलते मनुष्य
जो तन का सुख तजते प्रतिपल
मन को पवित्र करते दुख से
औ' आत्म-हर्ष-रस पीते हैं !
ऐसे भी होते हैं मनुष्य
जो सुख-दुख दोनों से सुदूर
रहते हैं वन की छाया मे एकान्त-मग्न !

लेकिन ऐसे भी मानव हैं
जिनमें सुख-दुख की छाँह नही
मुस्कान-अश्रु दोनों में कोई भेद नहीं
रहते हैं जन-मन के वन में
हँसते हैं जब मानव हँसता
रोते हैं जब मानव रोता
पर उनका रुदन-हास आत्मा से दूर, दूर

वे मानव हैं इसलिये कि मानव-गृह में हैं
धरती पर हैं इसलिये मनुज हैं वे महान
अन्यथा त्याग को देख देव लज्जित होते !

देवता कौन ?
जो सदा सुखी !
देवता मनुज बन सकते हैं समतामय स्वर्ग बसाने से
पर मानव बनना बहुत कठिन है जीवन में
जब कम-मर्मका सत्य ज्ञान दे देता है
श्रद्धाकुल जीवन जब पुकारता ज्योति-लक्ष्य को प्राणों से
तब उस पुकार की यात्रा पर बनता मनुष्य
जो किसी देवता से ऊँचा है धरती पर
अवनी भी गर्वित होती है जिसको पाकर
अम्बर भी जिसका गीत सुना करता चुपके
इतिहास चमकता है जिसकी परछाइँ से
साहित्य समुन्नत होता है उस मानव से
लेखनी प्रतीक्षा करती है, निकलो मनुष्य,
अम्बर में नित्य उगा करता है एक सूर्य
धरती को भी चाहिये मनुज का सूर्य-रूप !
निकलो चरित्र की किरण इसी मिट्टी से ही
दो महाकाव्य का दान किसी जीवित कवि को
देवता पढ़े जिसको प्रकाश की छाया में
सीखे धरती से आत्मज्ञान मानवता का
समझे मिट्टी की भाषा में भी सूक्ष्म ज्योति
उतरे धरती पर स्वर्ग सत्य अपनाने को !

ट पर से नम्र सुनयना स्वयं पुकार रही
ाविक नौका को लिये आ रहा मन्द-मन्द
ोता के प्राणों में उठते हैं ज्योति-ज्वार
र्मिला हृदय की लहरों में तैरती स्वयं
ारों बहिनें देखतीं पिता का मुखमण्डल
ो चन्द्र-किरण की छाया में अति भव्य-दिव्य
ो' जनक स्वयं
ोता के श्यामल बाल छू रहे हैं चुपके
ह रहे सभी से--"समझी मेरी बात आज ?"
ोता नयनों से बोल रही--"मैं समझ गई"
र्मिला कह रही मन-ही-मन--मैं समझ नहीं **पाई सब कुछ**
तने में तरणी तट से टकराई सहसा
ानी सबके सँग चली जा रही संग-संग
ोकिला एक कूकी वसन्त की रजनी में
पवन के पथ पर स्निग्ध चाँदनो बिछी हुई
ोतल समीर के सँग सुरभि विचरण करती
ोंगे हैं सारे पुष्प-गुच्छ शीतल कण से
ब चले गये उज्ज्वल गृह मे धीरे-धीरे !

अष्टम सर्ग

प्रिय नील गगन-नव शुभ्र शरद के नवल चरण
उज्ज्वल घन-घुँघरू-बाँध सरोवर-दर्पण में करते विचरण
शत-शत कोमल अधखुले कमल शोभा-सरोजिनी से खुल-खिल
कह रहे कथाएँ पुरइन के पल्लव-वितान की छाया में
आनन्द-अश्रु हैं बिखर रहे पत्राङ्क-नीलिमा-स्वप्नों पर
ओसाच्छादित चारों तट पर मुस्काते हिलते हरसिंगार
जिनके पुष्पित संगीत अवनि पर बिखरे हैं उजले-पीले
जिनकी मादकता-सुरभि-वीथि पर खंजन-चंचलता उड़ती
विस्तृत हरियाली पर सुमनाकुल प्रहरी-तरु अति हर्षाकुल
उड़ती कलापिनी इधर-उधर रेशमी पंख में ले झोंके
उड़ते उजले-उजले सारस पाँखों की उज्ज्वलता बिखेर
है शान्त सरोवर में मरालिका करती निज प्रतिबिम्ब-दान
शीतल समीर से हिल जाती चित्रित निर्मल जल की शोभा
यह देख हंस डुबकियाँ लगाते बार-बार।

बज रही बाँसुरी दूर विमल उर्मिला-सुकोमलतर कर में
माण्डवी बीन को जगा रही मंत्रानुरक्त भैरवी लिये
कोई मृदंग भी बजा रहा धीरे-धीरे, धीरे-धीरे !

प्राची के आम्र निकुंजों के वातायन से
बालारुण झाँक रहा मंगल किरणों की मधुर पुकार लिये
चह-चहा रही नन्हीं चिड़ियाँ नूतन प्रभात की छाया में
घन-खेतों में उठ रही लहर पर लहर चपल हिलकोरों से

कन्धों पर लेकर हल बैलों के साथ जा रहे हलवाहे
चरवाहे शत-शत गायों के संग चले जा रहे इधर-उधर
जा रहीं टोकरी लिये कृषक की वधुएँ भी पगडण्डी पर
महुआ के नीचे एक बालिका सरस प्रभाती जगा रही
कटहल-जामुन-अमरूद-आम-सीसम वन में भी मधु गुँजन !

प्रिय तीर भुक्ति का केन्द्रस्थल
यह मिथिला है
सुन्दरता की नगरी विशाल
भव्यता, मधुरता का संगम
साहित्य-कला-संगीत त्रिवेणी का स्वरूप
जिसके अम्बर से झरती हैं कवितावलियाँ
खिलते जिसके भू पर नित कोमल काव्य-कुसुम
जिसकी मिट्टी पर स्वयं प्रकृति की कला व्याप्त
जिसकी साँसों से ही संगीत निकलते हैं।

यह है विदेह का देश
जहाँ जीवन को भी जीवन मिलता
करते शुक-पिक भी बात देव-भाषा में ही !

आती सीता
नूपुर शोभित
स्वच्छन्द चरण-रव फूट रहे हैं मन्द-मन्द
आ रही जनक-तनया ज्योतित
कर में पूजा का थाल लिये
धीरे-धीरे

हैं खुले केश उर्मिल श्यामल

आई विदेह की मुक्त किरण,
कितना उज्ज्वल शशि-मुख मण्डल
यह स्वयं प्रकृति-सौन्दर्य-सृष्टि
करुणा की निर्मलता प्रसन्न
कितना पवित्र सुकुमार-काय
सुन्दरता का साकार सृजन

जा रही उधर
गिरिजा-मन्दिर की ओर वहीं
पीपल बरगद से तनिक दूर
उस शुभ्र सरोवर के तट पर
मल्लिका, वकुल, केतकी और चम्पक तरु हैं जिस ओर लगे
जिनके उत्तर में है अशोक दक्षिण में दीर्घ सिरीस वृक्ष

मन्दिर के निकट गई सीता
नूपुर-गुँजित मृदु चरण पार करते सीढ़ी
वह पहुँच गई ऊपर जिसके
सम्मुख मन्दिर का मुख्य द्वार
वह ध्यान मग्न, अर्चनाधीन, प्रार्थना-वन्दना-छाया में
पुलकित सीता-पार्वती-लीन !

वह आई
शिव के धनुष उठा कर लगी लीपने धरती को
देखा माता ने अकस्मात्
आश्चर्य हुआ

दौड़ी विदेह के यहाँ तुरत
बोली, सीता ने स्वयं धनुष को उठा लिया
हे आर्य ! चलो तुम भी देखो !
देखा विदेह ने सीता को,
सीता ने देखा नहीं उन्हें
वह कर्म-लीन गोबर-मिट्टी से लीप रही है वसुधा को
वे लौट चले !

बैठे हैं पर्ण-कुटी में जनक अकेले ही
कुछ ऋषि-महर्षि आये थे लेने ज्ञान-दान
वे चले गये शिक्षा ले कर निज-निज गृह में ।
राज्यातिथिवासर के प्रांगण भर जाते हैं वर्षा ऋतु में
अति दूर-दूर से आते हैं आगन्तुकगण
लेने जीवन-दर्शन की अमृतमयी वाणी
सीता ही तो सत्कार किया करती सबका
अपनी प्रिय बहनों के सँग-सँग ।

एकाकी नृप बैठे हैं पंछी के समान
आकांक्षा का वह एक प्रश्न कहता मन से——
"सीता ने शिव-धनु उठा लिया
वह किरणमयी कितनी सशक्त कोमल कलिका
यौवनोन्मुखी संयमित स्वप्न मेरे सम्मुख
मैं किस विराट की छाया में मंगल बन्धन की सृष्टि करूँ
जो शिव का धनुष चढ़ा ले कम-से-कम कर से !"
यह चिन्तन एक प्रतिज्ञा में परिवर्तित हो

अति व्याप्त हो गया आर्यभूमि में सभी ओर
कोई न उठा भी सका धनुष को निज बल से
इतना सशक्त गम्भीर लौह-पाषाण-धातु !

उस दिन चुपके
हर्षाकुल आँसू बिखर गये लाखों दृग से
जीवन-प्रसन्नता प्रकट हुई अभिलाषा पर
वह जनक-प्रतिज्ञा पूर्ण हुई रघुवंशी से
विभ्राट राम ऋषि कौशिक के आशीष लिये

आये सम्मुख
औ' तोड़ दिया शिव-धनुष विष्णु-कर से अपने
जय-घोष हुआ जीवन-जय का
मधुमयी सुनयना सिहर उठी हर्षित स्वर से
साकेत-सत्य में जनक-शक्ति मिल गई स्वयं
अति दीप्त राम के संग निर्मला सीता की रश्मियाँ मिलीं।

आये दशरथ सम्राट् सूचना पाकर ही
देखा विदेह को, मिथिला को, योगात्मक एक भिखारी को
जिसके सुराज्य में एक भिक्षु भी नहीं
सर्व जन शिक्षित, दीक्षित, कलापूर्ण
सादगी यहाँ की निर्मलता
जीवन का स्तर समता में परिवर्तित मुखरित
सब मृदुभाषी,
चारित्रिक शोभा से सुरभित
मुस्कान भरी नारी-प्रतिमा

उल्लसित सभी के मुख-मंडल
प्रासाद-निवासी भी झोंपड़ियों के प्रेमी
प्रति गृह के सम्मुख विटप-वृक्ष
वन-वल्लरियों की सुषमायें
श्रमपूर्ण स्वस्थ जन गण उन्नत
संस्कृति-शोभित आवरण स्वच्छ
गायों-बैलों से पूर्ण राज्य
है पर्ण-कुटी भी कलापूर्ण
संगीत-स्नात हैं द्वार-द्वार
खेतों में वैभव-लता-पुंज
साहित्यिक-चर्चा ठौर-ठौर
अध्यात्म-वेद की बातें भी
सामाजिकता की भी उमंग ।

औ' प्रिय विदेह ?
जीवन-दर्शन के महाग्रन्थ
अध्यात्म-चिन्तना के प्रतीक
योगानुरक्त अति मानव ही
शुद्धातिशुद्ध मन चारित्रिक
नयनों में निर्मलता अशेष
राजर्षि महायोगी प्रफुल्ल
धरती पर रह कर भी धरती से दूर-दूर
धरती पर इसीलिये कि भूमि पर ही जीवन
मिट्टी का चिर सम्बन्ध मनुजता के मन से
यह कर्म-नीड़
कर्त्तव्य-कुटी

मानव-जीवन का यह पोषक
औ' मरण-मोहमय ममता की अन्तिम माता
जो शव को भी देती शरणागत की छाया !
मानव की कथा उमड़ती है जिसके मन से
इतिहास जहाँ से लेता भाषा का प्रदीप
वह मिट्टी है
मानव की जीवित जननी है।

आते मनुष्य, जाते मनुष्य
नित जीवन-मरण आवरण में लुक कर छुप कर
पर यह धरती चिर स्वप्न लिये
मानवता का कल्याण लिये
कितनी अचला
फल-फूल लिये, रवि-धूल लिये
निर्झर-अरण्य-वन-कूल लिये
पर्वत, समुद्र की शक्ति लिये
सम्पूर्ण मनुज-अनुरक्ति लिये
अब भी वैसो !
ऋतुओं का आना-जाना भी अब भी वैसा का ही वैसा !
घनघोर घटा
चंचल बिजली
सौन्दर्य-कली
सुरभित वसन्त की मोहकता
प्रिय स्निग्ध शरद की निर्मलता की रूप-विभा
सब-कुछ मिट्टी पर ही शोभित
षट् ऋतु ही तो जीवन-दर्शन

/उल्लास कभी
बरसात कभी
नंगी डालों का क्रन्दन भी
सुख-फूल और दुख-शूल यहाँ
ये दोनों सपने साथ-साथ/
बाहर का सुख कर्त्तव्य-कर्म का प्रकट रूप
भीतर का सुख आत्मानुभूति-आलोक स्वयं
ऋषि जनक स्वयं सर्वाङ्ग सुखी
आनन्द स्वयं
परमात्म ज्ञान-गिरि के समक्ष !

ढूँढेगा जब इतिहास पृष्ठ को उलट-पुलट
है कौन महा मानव, महर्षि सम्राट दिव्य
उसके सम्मुख
होंगे विदेह
केवल विदेह का जीवन हो कर्मोन्मुखी——
योगानुरक्त निर्भीक आत्म का शुभ्र सत्य
सम्राट कर्म से ही होता है महा मनुज
उसकी महानता नहीं स्वर्ण वैभव में ही
आत्मिक चरित्र की ही महानता श्रेष्ठ सत्य
इसलिये जनक राजर्षि महा
अति मानव भी
धरती के उज्ज्वलतम सुचित्र !
सीता उनकी तनया——
मेरे उन्नत सुपुत्र की ज्योति-वधू

मिथिला की सर्वोत्तम शोभा
उर्मिला स्वयं कितनी सुन्दर
माण्डवी स्वयं कितनी निर्मल
मैं धन्य आज कितना जग में।
मैं नहीं चाहता मिथिला का वैभव भी लूँ
यह तो जन गण का वैभव है
मिल गई मुझे अपने आत्मज के लिये वधू इतनी सुन्दर,
इतनी सुशील, इतनी शिक्षित,
फिर वैभव क्या ?
यह सुन्दरता-अपमान स्वयं
जब मिली चाँदनी की शोभा
तब सोने के ये दीप व्यर्थ से लगते हैं
चाँदनी देख कर व्यंग्य करेगी जीवन में !

सीता जाती ससुराल, अश्रु भी रोते हैं
ओ प्रिय विदेह ! तुम भी रोते हो बिछुड़न से ?
रो लो विदेह ! ये आँसू ही मानवता को बतलायेंगे
तुम हो मनुष्य
तुम में भी जीवन-ममता है
बचपन के बाद न रोये थे तुम कभी कहीं
है स्मरण, कभी भी नहीं जनक !

लेकिन जब से जानकी मिली
तुम एक मनुज हो योगी में
रो लो जी भर
कन्या का मोह बड़ा मीठा होता नरेश,

आदमी पालता है दुलार के आँसू से निज कन्या को
पर जब वह चलने लगती है पति के गृह में
पाषाण पिघल कर निर्झरिणी बन जाता है !
बेचारा पिता देखता ही रह जाता है
उस भोली-भाली कन्या को जिसको उसने पाला-पोसा

इतना मत रोओ ओ विदेह !
कुछ आँसू तो रहने दो अपनी आँखों में
तुम हो महर्षि !
साधना कलंकित नहीं करो निज आँसू से
ओ पिता ! बस करो रहने दो दृग में आँसू
साकेत तुम्हारी दुर्बलता को देख रहा
रानी को रोने दो जी भर वह तो माँ है !
माँ तो करुणा से ही बनती है जीवन में
केवल उजले आँसू का हार पहनती है
रोने दो विकल सुनयना को हे प्रिय विदेह,
जाओ सीता के माथे पर निज कर रख कर
अपना अन्तिम आशीष उसे दो मिथिला का,
उसने अति सेवा की है अपने बचपन से,
आँखों का अन्तिम प्यार उसे दे दो नरेश !

बेटी का मोह विछोह काल में ही होता
जब आँसू की घनघोर घटायें घिरती हैं
जब प्राण काँप उठते हैं निर्मल करुणा से
मिथिला सूनी हो रही आज
सीता के कोकिल-गीत नहीं गुंजित होंगे, अब पुनः यहाँ

ऋषियों की सेवा कौन करेगी अब इतनी
जा रहीं सभी पुत्री घर से
उर्मिला, माण्डवी...सभी जा रहीं मिथिला से !!

रोती-रोती सीता आई
गिर पड़ी पिता के चरणों पर
औ' पिता ?
नयन में अश्रु नहीं अब रहे शेष
जो थे सब तो झर गये पूर्व
फिर भी नयनों में करुणा लहराती आई
पुत्री की मर्म भरी आँखें देखने लगी अकुलाहट को
गालों पर ढुलके आँसू कहते हैं नृप से--
सीता के सब अपराध क्षमा कर दो नरेन्द्र !
इसने उस दिन अनजान अपरिचित भावों से
आज्ञा विदेह की लिये बिना ही धीरे से
प्रिय शिव का धनुष उठाया था।
हे पिता, क्षमा कर दो सीता का यह महान अपराध आज
जिसके कारण ही यह मिथिला को छोड़ रही !

मिथिला की ज्योति भरी शोभा जा रही दूर साकेत-पुरी
रानी वातायन से डोली को झाँक रही
दृग से आँसू झरते झर-झर
जिनको प्रसन्नता गूँथ रही प्रिय स्नेह डोर में फूल-सदृश !

नवम सर्ग

जिस मिट्टी को मिला जगत में
एक भरत-सा भाई
वह पवित्र है देश, स्नेह की
जहाँ अरुणिमा छाई !

राज-मुकुट से जहाँ श्रेष्ठ है
प्रेम, वहीं मानवता
जहाँ बुद्धि श्रद्धा-शोभित
है, पावन वहीं सफलता !

आँसू नहीं दृगों में जिसके
वह मनुष्य पाषाणी
आग वीरता-विजय किन्तु
नम्रता नयन का पानी !

अधिकारी हैं राम राज्य के
मैं क्यों इसे चलाऊँ
सोच रहे हैं भरत, सत्य में
कैसे आग लगाऊँ !

भाई वह जो भ्रातृ भाव का
अन्तर दीप जलाये
सेवा के करुणा-जल से
जीवन को सरस बनाये

अनुज त्याग की मूर्ति,
शीलता की पवित्र शीतलता
माता का साकार प्रेम,
जिसमें समस्त निर्मलता !

ओ इतिहास, समय के गृह में
भरत आज अकुलाता
लोभासन पर बैठ प्रेम का
सत्य विशुभ्र छिपाता !

स्वार्थ कपट के दुराचार से
अच्छा है मर जाना
घोर पाप है जीवन में
अन्याय-सुधा अपनाना !

वनवासी हों राम, भरत हो
वैभव का अधिकारी !
झुका आर्य-आदर्श, जगा दूँ
हे वसिष्ठ चिनगारी !

जाना होगा मुझे राम के
चरणों को अपनाने
जाना होगा मुझे बन्धु को
वन से वापस लाने

साकेत भरत के आँसू से धुल गया स्वयं
सारा कोलाहल मिटा, प्रेम की वाणी से

कैकेयी हुई प्रकम्पित सत्य-अनल भय से
मातृत्व-चेतना मिली भरत की भाषा से
ईर्ष्याकुल मां ने समझ लिया यह त्याग-मर्म
वेदना-भूमि पर गिरी झुलस कर एक बार
वरदान-पुष्प की पंखड़ियाँ हैं झुलस गईं
अभिशाप-गंध निकली प्राणों की साँसों से
औ' फैल गई विद्रोही जन-मन-आँगन तक
कैकेयी की आँखों से आँसू निकल रहे
हव चीख रही कर्मों की क्रान्ति-पुकारों मे
चाहती आज विष-पान किन्तु
वह क्षमा-अश्रु में जाग रही है ज्ञान लिये !

सम्पूर्ण अयोध्या है उदास जैसे अकाल हो पृथ्वी पर
चल पड़े भरत, रानियाँ चलीं, शत्रुघ्न चले
चल पड़े महान वसिष्ठ, सैन्य, पुरजन अमात्य उस ओर जहाँ
वनबासी राम विचरते हैं सोता लक्ष्मण के साथ-साथ
वरदान और आज्ञा के अनुशासन लेकर !

धो रहे धरा को भरत-अश्रु
चरणों में काँटे चुभे, फफोले पड़े, जले सब अंग-अंग
पर भरत-बन्धु सुधि-स्नात चले जाते पथ पर
विस्मय का वातावरण शान्त, फिर भी अशान्त
संतोष, व्यंग्य, श्रद्धा जाती है संग-संग !

मिथिला को मिला भरत-श्रद्धा का समाचार
उस दिन विदेह के नयनों में खिल गये भरत

मुस्कान एक निकली अधरों से किरणमयी
मानवता ने संकेत किया अंतरतर में--
"जाओ विदेह तुम भी वन मे
यह कठिन समस्या-दुर्ग-द्वार खोलना पड़ेगा तुम्हें वहाँ !"
औ' उसी समय अकुलाती हुई सुनयना ने
कह दिया--"नाथ ! जाओ तुम भी ।"
हो गया समस्त प्रबंध तुरत
कौशिक भी उद्यत हुये वहाँ तक चलने को ।

आशा की लाली फैल गई जब प्राची में
निकले विदेह शिव गंध-युक्त अरुणाई मे
रानी भी आई उत्सुकता से भरी हुई
देखा विदेह ने कम से कम शत मानव चलने को प्रस्तुत
गूँजी शंखध्वनि तीन बार यात्रा-वेला
भूरे, काले, उजले घोड़े हिनहिना उठे
सारथियों ने अश्वों को द्रुत पुचकार दिया
बैठे कौशिक, बैठे विदेह, रानी भी बैठ गई रथ पर
धीरे-धीरे सब बैठ गये निज घोड़े पर
बढ़ चले चरण दक्षिण दिशि में
दस रथ जाते संबल लेकर ।

लम्बी लम्बी निज साँसों को छोड़ते हुए आश्चर्य-चकित
उस राज मार्ग पर लोग कर रहे हैं चर्चा--
सीता भी वन में चली गई
लक्ष्मण भी साथ गये वन मं

यदि भरत और शत्रुघ्न अवध में रहते तो
वे भी चल देते वन में ही !
सचमुच यह घोर अनर्थ हुआ श्रीराम हुए अधिकारहीन
ऐसी भी माता होती है इस धरती पर
कितने पवित्र हैं राम अहा !
कितना आकर्षण है उनकी मृदु वाणी में
है शक्ति और कोमलता दोनों घुली-मिली
कहते थे सब वह शक्तिमान रावण ही तोड़ेगा धनु को
पर स्वयं राम ने तोड़ दिया उसको हँसते
सीता भी गौरवमयी हुई पति को पाकर
यह सब विदेह का ही तप है
पर हाय राम का वन जाना सीता के लिये दुखद कितना
बेचारी प्रिय उर्मिला अकेली ही होगी
उसको तो महा वियोग मिला !
पर जनक जा रहे, राम लौट आयेंगे ही
बेचारे दशरथ भी परलोक सिधार गये
कैसी निर्मम वह माता है !

धरती पर शिशिर पुकार उठी--आओ वसन्त !
आया वसन्त, लेकर अनन्त सौन्दर्य-पुष्प
पल्लव-वसना नंगी डाली में खिले रूप
रस और गन्ध से व्याप्त हो गया दिग्दिगन्त
काकली उड़ाने लगी गीत की मधुर धूल
नित झूल-झूल कर सभी फूल कहते पथिकों से--
ओ मनुष्य ! पी लो तुम भी यह सुरभि-सुरा

फिर एक वर्ष के बाद मिलेगा यह जीवन
साँसों की हवा बहुत तेजी से चलती है
यह काल-स्रोत बहता प्रतिपल
क्या पता कहाँ तुम जाग्रोगे बह कर गति में
जीवन की नौका कहाँ लगे, कुछ पता नहीं ।

आग्रो देखो
इन कलियों की सुन्दरता को मोहकता को
सो जाग्रो सुषमा पर क्षण भर
हरियाली प्यास मिटा देती है अन्तर की
इन खुली हवाग्रों में छोड़ो निज गर्म साँस
जलते-जलते थक जाग्रोगे
सौरभ का जल हर लेती है सारी थकान
ओ पुरुष ! भागते फिरते हो हरियाली से !

रुक कर देखो,
ये नई डाल,
नूतन पल्लव,
साम्राज्य नया सुन्दरता का
गेहूँ-जौ पर ये ओस-गुच्छ
नीले-पीले ये मटर-फूल
मंजरी आम की देखी है तुमने, मनुष्य !
भौंरों का दल भी देखा है !
उड्डीन तितलियाँ देखी हैं चंचल कोमल !

मधुमक्खी को भी देखा है तुमने दृग से

छूने में कैसी लगती है चाँदनी तुम्हें ?
तुमने नदियों को देखा है ?
उन झीलों को जिनमें हँसते हैं नील कमल ?
उस निर्झर को जो ऊँचे पर्वत से झरता
जिसके तट पर पनिहारिन आती लिये कलश--
झाँकती रूप को पानी में
हँस उठती है निर्जनता में अँगराती-सी
दोनों हाथों को ऊपर उठा मचलती है
जब मादकता के उर-बन्धन खुल जाते हैं
जब गा उठती वह गीत, सुना है तुमने वह ?

उसके आँचल को गिरते तुमने देखा है ?
केशों को खुलते तो तुमने देखा होगा
नयनों की भाषा तो तुमने समझी होगी !

मानव ! तुम रुके नहीं क्षण भर
जाओ मनुष्य तुम जलते ही रह जाओगे
नगरों की ओर चले जाते हो तुम युग से
पछताओगे ओ बुद्धिमान !

तुम प्रकृति छोड़ कर मत जाओ--तुम मत जाओ
ढूँढो वसन्त की प्रिय शोभा उपवन-वन में
कम-से-कम रहो गाँव में ही
अमरूद, आम, लीची, अनार, केला, कटहल
सब साग लगाओ आँगन में
आयेंगे शुक-पिक दोनों ही

होंगे प्रसन्न शिशु देख-देख
नव वधू सुनेगी मदिर गीत
चाँदनी रात में झूम-झूम तरु गायेंगे !

फूलों ने देखा, चले जा रहे हैं विदेह अपने रथ पर
वे देख रहे हरियाली को पुष्पित वसन्त की डाली को !

कौशिकी, गंडकी, गंगा को जब पार कर गये नृप विदेह
डाला पड़ाव उस मगध क्षेत्र से तनिक दूर
जिस जगह कोल-भीलों ने अति सम्मान किया
फल-फूल-शुभ्र जल लेकर निज श्रद्धाँजलि में।
वनवासी की सेवा से जनक विमुग्ध हुये
वन की भाषा ने योगी को झंकार-किरण से बाँध लिया।

वह एक दृश्य कितना मनमोहक कलापूर्ण
सहसा ढन-ढन बज उठा ढोल
जल उठी अग्नि सब ओर तुरत
निकले शत-शत वन के मानव ले नृत्य भाव
द्रिम-द्रिम मृदंग ध्वनि गूँज उठी
बाँसुरियों की तानें निकलीं
मुरली की मधुर पुकार हुई
सब एक वृत्त में गुँथे तुरत
केवल दो नर-नारी निमग्न केन्द्रस्थल मे
देखते जनक वन-प्राणोत्सव
कौशिक ऋषि भी होते प्रफुल्ल
औ' विमल सुनयना तो मन से मुसकाती है

कह रहा नृत्य-संगीत स्वयं--
स्वागत हे मिथिलापति महान,
वन-फूलों से, निर्झर-जल से
वन के काले-काले मनुष्य के भावों से
सभ्यता-विहीन सहज स्वर से
पर्वत-घाटी की भाषा से स्वागत महर्षि !
जंगल पहाड़ से घिरे हुये
हम पशुता में हैं लीन मनुज
काली छाया में केवल हम करते शिकार
खाते हैं मृग के मांस और मारते सिंह को भी अक्सर
खाना, गाना, नाचना हमारा काम यहाँ !

निद्रा की आँखें खुलीं विहग की बोली से
सुरभित प्रभात में पन्थी पथ पर चले पुनः
शत कोल-भील ने बहुत दूर तक साथ दिया
चलते-चलते फिर एक दिवस
पहुँचे विदेह गंगा, यमुना औ' सरस्वती के संगम पर
ऋषि भरद्वाज अति मुदित हुये मन-प्राणों से
अभिनन्दित हुये विदेह स्निग्ध गंगा जल से
निशि की निर्मलता में दर्शन-चिन्तना हुई
विश्रान्त शयन की वेला में

शंकाकुल कौशिक मुनि ने सहसा प्रश्न किया--
हे भरद्वाज ! ऋषि के आश्रम में मदिर मांस से भी स्वागत ?
साकेत-सैन्य क्या अन्न नहीं खा सकते थे ?

करुणाकुल जन-मन का स्वागत अप्सरियों से ?
इस ऋद्धि-सिद्धि के लिये घोर आश्चर्य मुझे !
सन्ध्या में ही यह ज्ञात हो गया मुझे यहाँ
समयोपयुक्त सब ठीक हुआ !
मैं समझ रहा था स्वयं विदेह इसे कहते
पर मौन रहे वे मन-ही-मन
प्रिय भरत अश्रुमय था केवल
रानियाँ सभी थीं स्वयं विकल
इस घोर विकलता में भी उत्तेजित स्वागत ?
ऋषि भरद्वाज ने उत्तर कुछ भी दिया नहीं
पर मन-ही मन बोले महर्षि
समयोपयुक्त सब ठीक हुआ

यह चित्रकूट का हरित मर्मरित वन-प्रांगण
शोभित वसन्त से रम्य तटी, तलहटी-स्वर्ग
गिरि-धवल-श्रेणियाँ नवल सौम्यता से सुरभित
निर्झर-कलरव-संगीत चतुर्दिक कुंज-व्याप्त
अति स्निग्ध शान्ति का वातावरण प्रशान्त, शान्त
है स्फटिक शिला पर जल हिलोर-गुंजित, मुखरित
कूजित पँछी के विविध बोल विटपों की हिलती डालों पर
ऊँची-नीची पगडण्डी सर्पाकार भव्यता से पूरित !

ऋषियों का संसद बैठा है गम्भीर प्रश्न की छाया में
न्यायासन पर आरूढ़ महर्षि वसिष्ठ स्वयं

मस्तिष्क ज्ञान का दीप जलाता बार-बार
औ' हृदय, मोह ममता की उजियाली देता

अध्यक्ष पूछने लगे प्रथम—"हे मर्यादित कुलश्रेष्ठ राम !
तुम कहो सत्य के सम्मुख ही
संसद का निर्णय तुम्हें मान्य होगा कि नहीं ?"
"हे ऋषि महान ! आदेश लिये मैं आया हूँ इस जंगल में
आज्ञा का पालन करता हूँ मन-प्राणों से
मैं देख रहा सैकड़ों महर्षि पधारे हैं
आये हैं पुर-जन, सैनिक भी
आये हैं सब विद्वान अयोध्या से वन में,
आये हैं मेरे भरत स्वयं जो मेरे प्राणों से प्रिय हैं
कितना है गर्व मुझे अपने इस भाई पर, कैसे कह दूँ
है भरत प्रेम-देवता एक
मातायें भी सब आई हैं, सब आये हैं मेरे सुमित्र
कैसे कह दे यह राम कि निर्णय मान्य नहीं !
पर आत्म-सत्य कहता मुझसे
सत्यानुकूल ही निर्णय हो
जन-मन से भिन्न नहीं हो सकता कभी राम
स्वीकार मुझे होगा निर्णय ऋषि संसद का !"

वे बैठ गये इतना कह कर
हो गये लुप्त गम्भीर भाव सब के मुख से
दौड़ीं प्रसन्नता की लहरें सब के दृग में
कुछ लोग देखने लगे राम को बार-बार

"हे भरत ! तुम्हें भी कहना है कुछ, तो बोलो"
--बोले वसिष्ठ
तब कहा भरत ने उठ कर करुणा के स्वर से--

"हे मुनि महान ! हे राम और पुर-जन उदार !
वाणी मेरी हो रही मौन
मैं क्या बोलूं !
आँसू के पारावार उमड़ते हैं दृग में क्या कहूँ हाय,
अवरुद्ध कण्ठ से कोई क्या कह पायेगा ?
लज्जा से मेरा मस्तक अब तक उठ न सका
अपराधी के मुख पर मुस्कान नहीं आती
कपटी न न्याय के सम्मुख कुछ कह पाता है

इतना ही मैं कह सकता हूँ, मैं दोषी हूँ
माता पर दोष लगाने वाला मानव होता है पापी
जो उड़ी एक चिनगारी लोभी-इच्छा से

वह मेरे मस्तक पर ही आकर बैठ गई
मां ने सचमुच सपना देखा
हो गया भरत सपने में ही सम्राट स्वयं
पर मैं था दूर, सुदूर हाय
जब मैं आया तो आँख खुलीं प्रिय माता की
मैं आया हूँ अपने भाई को लौटाने
लौटाकर ही जाऊँगा अपने जीवन में
यदि वे न लौट पायेंगे तो मैं भी विचरूँगा वन में ही
हैं राज मुकुट से अधिक प्रेममय मुझे राम
जिस माता की इच्छा से राम यहाँ आये
उस माता की इच्छा से ही वे चलें लौट

जब स्वार्थ सामने आता है
दुर्बल मानव का ज्ञान लुप्त हो जाता है
पर ज्ञान पुनः जब मिल जाता
चेतना मनुज की जग जाती
मां आई है चेतना लिये--निर्मलता का सत्यान्त लिये
साकेत-राज्य का भरत नहीं अधिकारी है
अधिकारी केवल श्रेष्ठ राम
दिन को जब बादल ढँक ले तो वह रात नहीं
इसलिए राम लौटें वन से
औ' मैं ही वन में रहूँ स्वयं !"

इतना कह कर वे बैठ गए।
तब एक और मुनि बोल उठे आज्ञा लेकर--
"है भरत शुद्धतः दोषमुक्त
यदि राम सत्य के सेवी हैं तो लौट चलें
चाहते भरत वनवासी होना स्वयं किन्तु
सुन्दर होता यदि राम भरत के संग चलते !"

तब खड़े हुए शत्रुघ्न सभा की आज्ञा से
बोले--महान ऋषि-गण, पुर-जन !
हैं राम प्रेम की मूर्ति स्वयं
वे प्रेम नहीं ठुकरा सकते
सब लोग एक स्वर से करते हैं वन-विरोध
इसलिये राम लौटें वन से
यदि आज्ञा हो तो मैं ही वन में रहूँ यहाँ

हैं राम भरत के लिये प्राण से भी बढ़ कर
सब माताओं ने मुझे कहा है कहने को
प्यारे हैं कितने राम सभी माताओं के, यह कौन कहे
यह स्वयं राम जानते यहाँ
कैकेयी मां तो प्राण त्याग देगी वन में यदि वे न चलेंगे
साथ साथ

संसद के सभी सदस्य मौन सब को आपस में देख रहे
अनुकूल परिस्थिति निरख बात करते स्वर से
पर एक शब्द भी नहीं निकलता, इतना अनुशासित संसद
बोले वसिष्ठ हर्षाकुल होकर एक बार——
"क्या और किसी को कहना है
कोई हैं जो चाहते बोलना यहाँ और ?"
सब मौन स्तब्ध पर हर्षित मुख की रेखायें
पर राम एक गम्भीर भाव की मुद्रा में
कुछ लोग उन्हें देखते अचम्भित भावों में
इतने में स्वयं खड़े होकर बोले वसिष्ठ——
"हे ऋषिकुल, जनकुल ! एक प्रश्न सम्मुख मेरे
सब की अभिलाषा यही कि राम लौटें वन से
जन-मत–आत्मा से निर्णय यही निकलता है
ऋषियों की भी इच्छा कि राम हों वन-विमुक्त
कर्त्तव्य प्रेम की ओर झाँकता बार-बार
कितना उदास साकेत हो गया है सच्चमुच
जब से नृप दशरथ नहीं रहे इस धरती पर
हे राम परिस्थिति से कर्त्तव्य निकलता है······

इतने में राजदूत आये प्रिय मिथिला के
औ' ऋषि वसिष्ठ के प्राणों में सन्तोष हुआ
सम्पूर्ण सभा में एक हर्ष की लहर दौड़ती हुई चली
जब राजदूत ने कहा कि आते हैं विदेह !
पर ऋषि वसिष्ठ की ज्योति हुई सहसा लज्जित
जब पूछ दिया—हे दूत ! कुशल तो हैं विदेह
औ' उत्तर मिला कि उनका कुशल ? सदा चिन्ता-विमुक्त !
वे राम-प्रेम-आकर्षण से आ रहे यहाँ !

आ रहे जनक, आ रहे संग शत-शत पुर-जन
आते हैं विश्वामित्र नृपति के साथ-साथ
जा रहे इधर से स्वागत में मुनिवर वसिष्ठ
जा रहे राम के संग अनुज, जन-गण समस्त
नयनों की उत्सुकता दर्शन में हुई लीन
सबने देखा, कितने प्रसन्न हैं प्रिय विदेह
वन्दन-अभिनन्दन-नमन और आशीर्वचन जब हुये शेष,
सन्तोष समस्या के भूतल पर करुणा को देखने लगा,
फिर दोनों ही चल पड़े स्नेह की छाया पर !

चाँदनी-स्नात वह एक रात लेकर पवित्रता की किरणें
प्रिय चित्रकूट के आँगन में विचरण करती
कहती विदेह से सब रहस्य
ले आता सत्य-सुगन्ध पवन
निद्रा में ही जागरण जलाता आत्म-दीप !

जागा प्रभात,
उज्ज्वलता की मधुवेला में गिरि-स्वर्ण शिखर पर
कौन खड़ा ?
सब देख रहे--वे तो विदेह !
कर किरण-स्नान वे उतर रहे धीरे-धीरे !

दोपहरी में सीता आई,
देखा विदेह ने स्नेह युक्त, अधरों पर एक हँसी लेकर
आई तीनों रानियाँ पुनः
सीता की माता ने सहर्ष सम्मान किया
फिर राम, भरत, शत्रुघ्न, सुमित्रानन्दन भी आये विदेह के आश्रम में
आये वसिष्ठ भी मन्द-मन्द
छू कर चरणों को बोल उठे राजर्षि जनक--
"मैं स्वयं वहाँ आने को था हे प्रिय महर्षि
पर बच्चों ने मेरे जीवन को घेर लिया !"
बैठे विदेह निज आसन पर हँसते-हँसते

दर्शन की चर्चा हुई त्यागियों के समक्ष
बोले विदेह--मानव का जीवन स्वयं शिल्प
वह स्वयं एक शिल्पी महान
मानव की अन्तर-मूर्ति आत्म ही गढ़ती है
वह मूर्ति चमकती है चरित्र के ही रँग से
पर रंग घोलता स्वयं सत्य निर्मलता के गंगाजल में
है शिल्पकार जो मनुज नहीं निज जीवन का
वह विश्व-मूर्ति-निर्माण नहीं कर सकता है !

यदि स्वयं नहीं मानव सुन्दर अन्तरतर से
तो जग में उसकी कैसे सुषमा फैलेगी ?
है लक्ष्य मनुज का नहीं कर्म केवल जग में
है लक्ष्य कर्म-पूर्णता जहाँ आनन्द ज्योति देती विमुक्ति !

इसलिये आत्म-सन्धान रश्मि-सन्धान स्वयं
जिसके इंगित से ही शरीर वासना-मोह तजता रहता
वासना ज्ञान को बार बार मनकी लहरें छूती रहती
जो मन पर करता विजय वही तो मानव है
सम्पूर्ण इन्द्रियों पर जो करता विजय वही उन्नत योगी
देती न कर्मपूर्णता कभी वासना यहाँ
वासना कर्म में कोलाहल भर देती है
पर ज्ञान पूर्णता के मस्तक पर पाता शीतल शान्ति, मुक्ति !

दर्शन के पाठक को दार्शनिक नहीं कहते
दर्शन के योगी कहलाते दार्शनिक यहाँ
औ' इसी तरह, विद्वान न पढ़ने से ही मानव बनता है
विद्वता कर्म से ध्वनित ज्ञान को कहते हैं !
आलोक वही जो अन्धकार पी जाता है
जो पी जाता है गरल वही तो अमृत पुत्र !

मानव के प्रश्नों के उत्तर दे रहे जनक
पर ज्वलित जीर्ण मध्याह्न सान्ध्य आह्वानपूर्ण
हो गई भंग गोष्ठी कौशिक-इच्छानुकूल !

फिर प्रात-वात
छा गये किरण के रंग सात जिनको गति पर रवि निकल रहा

खग डाल-डाल पर चहक-चहक कर फुर्र-फुर्र उड़ते सहर्ष
झरती झर-झर निर्झरिणी गिरि के अन्तर से
सब नित्य-कर्म में लीन हुए वन-छाया में
सुरभित वसन्त का अमिय-पवन बह रहा मन्द
कोमल किसलय के झुरमुट से रश्मियाँ सुनहली निकल रहीं।

उष्णता दिवस की उज्ज्वलता में जाग उठी
धीरे-धीरे दिनमणि केन्द्रस्थल पर आया
जनकाश्रम में ऋषियों की हुई प्रशान्त सभा
उत्सुक वसिष्ठ ने भावुकता का पक्ष लिया चातुर्य्यपूर्ण
सत्याकृति को गम्भीर दृष्टि से देख रहे केवल विदेह
हो रहो प्रतीक्षा अन्तिम प्रेमिल निर्णय की।

सबकी आँखें देखतीं जनक का मुखमण्डल देदीप्यमान
श्रद्धानुरक्त सब देख रहे हर्षित मन की हरियाली से
बोले विदेह—हे मुनि वसिष्ठ, हे ऋषि, जन-गण !
है प्रेम कर्म का प्रिय सहचर
जीवन का ज्वलित महत्व प्रेम
हम इसी प्रेम के पथ से आये हैं वन में
कर रहे समर्थन सभी प्रेम का प्राणों से
'सब के नयनों में भरत-अश्रु कुछ कहते हैं/
सब इस प्रतिक्षा में बैठे हैं आशा पर
सबकी भाषा में जलते प्रेम-प्रदीप यहां !

पर मानव का कर्त्तव्य सत्य पर बैठा है
भावुकता के मस्तक पर ज्ञान चमक उठता

गति की धारा रोकना मनुज का धर्म नहीं
धारा बह कर अब बहुत दूर तक आई है
सम्राट वचन की छाया में हो गये लुप्त
उनके जीवन में दे न सका कोई सुतर्क
उनकी आँखों ने वन के सपने देख लिये
उस समय न माता पिघल सकी अंगारों से
अब वन से वापस जाना तो नृप दशरथ का अपमान घोर
उनकी मृत आत्मा व्यंग्य करेगी जीवन से
जो तीर निकल कर चला गया उसकी चिन्ता है व्यर्थ यहाँ
भावुकता से कर्त्तव्य बहुत ऊँचा जग में
कर्त्तव्य अकेला ही चलता मनुष्यत्व लिये।

इसलिये सत्य यह कहता है वनवास राम का कर्मपूर्ण
आज्ञा का पालन कर फिर आज्ञा भंग-एक निन्दित आशा
उपहासपूर्ण प्रेरणा एक
उज्ज्वल है केवल वही प्रेम, है जिसमें त्याग भरी ममता
भावुकता के आँसू से निर्मल ज्योति अश्रु !

हे राम यहाँ से इतनी दूर चले जाओ--
जिस जगह न ममता घेर सके
विन्ध्याचल के उस पार, घोर-जंगल के भी उस पार
जहाँ द्राविड़ की शिव-सभ्यता मनुजता ढूँढ़ रही
सुन्दर वन-उपवन की शोभा है नदी-निर्झरी से शोभित !

सब मौन हुए सुनकर निर्णय
मानव का आकुल प्रेम सत्य को देख रहा

प्रिय चरण-पादुका माँग रहे हैं भरत राम से विनयपूर्ण
श्रौ, राम जनक के निर्णय से कितनी प्रसन्नता में विभोर
हो रहे स्वयं
सीता विदेह-प्रस्थान-काल उनके चरणों को देख रहो
हँसते ग्राँसू को देख रहे केवल वसिष्ठ !

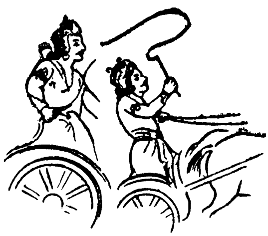

दशम सर्ग

इतिहास ! तुम्हारे उद्यानों में एक कली
चौदह वर्षों तक नहीं खिली
उर्मिल झोंके आये कितने औ' चले गये
लेकिन पंखड़ियाँ नहीं हिलीं

संयम के हरे वृन्त पर जीवन सजग रहा
ज्योतित चरित्र की सुरभि प्राण पर रही खड़ी
बस इसी प्रतीक्षा में, आशा की भाषा में—
आयेंगे प्राणों के पाहुन लेकर नवीन संगीत-प्रीत
कुछ ओस प्यार के बरसेंगे मेरे मन पर
साँसों की हवा चलेगी जीवन के वन में
यौवन का संचित स्वप्न उड़ेगा एक बार
अभिलाषा का तूफान उठेगा अम्बर तक
उर्मिला ज्वार के कर से शशि को छू लेगी
तब तक नारी जलती है अन्तर दीपक पर
वासना, प्रेम, उत्सर्ग, भक्ति के आँगन में
यौवन की ज्योति अकेली जलती है कब से
तूफान बुझा सकता है जिसको नहीं हवा-हिलकोरों से
झोंके से मन का दीप नहीं बुझ पाता है
घिरता न प्राण पर अन्धकार
दुर्बलता की आई न एक भी रात कभी !

पर विरह-सिन्धु लहराता है, उफनाता है/

नारी के दोनों तट से नित टकराता है
उर्मिला ऊर्मि-संगीत स्वयं
रागिनी एक भूखी-प्यासी सुधि की शय्या पर सोई है
काँपती हुई स्वर-लहरी उर से निकल-निकल
साँसों की चिनगारी पर जल जाती प्रतिपल !

ओ विकल चकोरी ! आग खा रही हो कितनी
अंगार चबाने में भी तो आनन्द तुम्हें
है चाँद तुम्हारा दूर—नयन से दूर-दूर
इसलिये स्निग्ध शीतलता आती नहीं यहाँ
नयनों में केवल घटा, घटा की एक रात
जो बारह वर्षों से सावन को सँजो रही
ऐसी बरसात न मिली किसी को भी जग में
घूँघट से ही तुमने देखा शशि को केवल
नयनों से नयन न मिल पाये इस जीवन में
नव वधू ! तुम्हारी भोली छवि
अब भी वैसी की ही वैसी !
सिंदूर माँग में चमक रहा वैसा ही तो
मुस्कान तुम्हारी सजल शीलता-गृह में अब भी है वंदित !

पैरों की उंगलियाँ अब भी हैं रँगी हुईं
हीरक सुहाग-बिन्दी वैसी ही ज्योतित है ।
आँखों के काजल धुले नहीं हैं आँसू से
तुम अब भी एक सुहागिन हो जीवन-वसन्त के सपने में ।
कोमल कपोल पर मोती बिखर-बिखर जाते किस लिये
देवि !

इसलिये कि तुम भी मानव हो
नारी हो कोमल नगरी की
भावना तुम्हें है रुला रही
वेदना तुम्हारे प्राणों में सूई को चुपके चुभो रही
तुम सिसक रही, तुम सिहर रही, तुम काँप रही
उस तरह कि जैसे एक विहंगिनि उड़-उड़ कर गिर जाती है
भीषण आँधी की छाया में पति को खोकर
जिस दिन उसके यौवन की आँखें कहती हैं—
मैं आज रात में जागूँगी चाँदनी रात के फूलों पर
लेकिन उड़ जाती अभिलाषा आँधी के प्रलय-थपेड़ों से

सीता तो वन में गई राम के संग-संग
संतोष एक।
नारी ने नर का साथ दिया जगल में भी
एकाकी नारी कैसे रह पाती गृह में
वह भी तो चौदह वर्षों तक
उसमें भी नूतन वधू नम्र
वह चली गई पति के सँग-सँग

सीता की छोटी बहन ! मृदुल कोमल सुन्दरि !
निर्मले, उर्मिले ! ओ कलिके! तुम पर तो वज्र-प्रहार हुआ !
मुकुलित सुवक्ष पर एक पहाड़ गिरा आकर
नयनों में आँधी उठी, नसों में बिजली कौंध गई चुपके
लग गई आग सहसा जीवन में एक बार
अभिलाषा की सारी कलिकायें झुलस गईं

नारी का अन्तर-सत्य चीखने लगा स्वयं
जब पुरुष-कर्म निष्ठुरता पर हो गया खड़ा
बन्धुत्व प्रेम आचरण भक्ति का रूप लिये !

है एक ओर प्रिय-प्राण बन्धु
दूसरी ओर वनिता नवीन, प्रेमाकुल सुन्दरता अधीर
कह रहा परम कर्त्तव्य किसी से—ओ मनुष्य !
माँगता देश बलिदान यही तुमसे केवल
उत्सर्ग करो, उत्सर्ग करो, हे बलिदानी
वनिता से बन्धु बड़ा है आर्यों की भू पर
सुन्दरता से कर्तव्य श्रेष्ठ है महाश्रेष्ठ
यह एक परीक्षा है मानव ! मत हो विचलित।

इस तरह सुमित्रानन्दन गृह से चले गये !
केवल आँसू के चार बून्द चरणों पर गिरे विदा-वेला
सीता जिनको देखती रही आकुलता से !

हे राम ! उर्मिला को एकाकी देख हुई चिन्ता कि नहीं ?
वह देख रही है एक अटारी पर चढ़ कर
वह झाँक रही है निज पति को पर हाय, देख पाती न तनिक
आँसू की इतनी घटा उमड़ती है दृग में !

जब लगी सुनयना रोने सुन साकेत-स्वप्न झंकार करुण
राजर्षि जनक चौंके सहसा
देखा, रानी की आँखों से झर रहे अश्रु
वे अश्रु सत्य को ढूँढ रहे हैं ममता में

जिसके गृह में उर्मिला अकेली खड़ी-खड़ी
देखती गरजती सिन्धु-धार
तट पर वह कितनी एकाकी यौवन-वसन्त-अभिशाप लिये
कर्त्तव्य-तरणि पर चले जा रहे हैं लक्ष्मण
बन्धुत्व और सेवा की चिर कामना लिये
पर हाय, उर्मिला मौन हृदय-वेदना संग कितनी आकुल
कैकेयी का वरदान-बोझ जिस पर अभिशाप गरजता है,—
उर्मिला अकेली उठा रही अपने सिर पर
सुन्दरता के मस्तक पर बैठा अग्नि-व्याल।

विचलित रानी को देख जनक ने कहा—देवि!
संघर्ष क्लेश की लपटों से ही उठता है
इसलिये दुःख में ही जीवन उज्ज्वल होता
विपदाओं के जल से जब प्राण तरल होते
आत्मा में मानव-निर्मलता मिल जाती है!
सुख तो जीवन-उपभोग,
किन्तु वह योग
दुःखों के अग्नि-शिखर पर ही मिलता जग में
आनन्द जहाँ हो जाता सीमाहीन स्वयं
उर्मिला देह के सुख से वंचित हुई किन्तु
वह समझेगी जीवन को पीर-प्रवाहों में
वह जायेगी उस जगह जहाँ पर मुक्त प्रेम
मानव के मन का बन्धन तोड़ बुलाता है!
तुम कहती हो मिथिला में उसे बुलाने को
उसकी साधना न भंग करो विदुषी आर्ये!

सुख-साधन में तप नहीं ज्वलित होता जग में
दुख-सहन-शक्ति में योग सुविकसित होता है
सुख की अनुभूति नहीं छूती है स्वर्ण सत्य
दुख की आभा ही गहराई तक जाती है !

इसलिये वियोगी भी योगी बन जाता है
जीवन-अभाव में भाव उठा करते ज्योतित
जो ले जाते हैं दूर-दूर मानव-मन को
चेतना जहाँ से उड़ती है किरणे लेकर
अज्ञान-तिमिर के पार ज्ञान मिलता नर को
उर्मिला दुःखों की उर्मि ज्योति में जायेगी
विश्वास मुझे
अक्सर कहते थे याज्ञवल्क्य उसको—पुत्री !
तुम एक योगिनी बनकर ही मुसकाओगी
औ' एक दिवस वह आई थी मेरे सम्मुख
पूछने अर्थ उस एक शब्द का हँसती-सी
मैंने भी उसे कहा था तब
दुख में जो सुख पा लेता है वह योगी है !
योगी मनुष्य का प्रखर रूप
वह तेज जहाँ पर तिमिर नहीं आता भय से !

सुख-दुख के सपने बाहर केवल नहीं देवि,
भीतर भी हैं
बाहर से हैं जो सुखी, अधिक सम्भव है वे है दुःखपूर्ण
अन्तर-तर से

अन्तर से हैं जो सुखी,
बाह्य से हों दुखमय यह भी सम्भव,
पर पीता है जो गरल दुःख का जीवन में
वह अमृत-पुत्र योगी महान् इस धरती का !
विष-ज्वाला से ही अमृत की बूँदें बनतीं
जिस तरह निविड़ तम से किरणें फूटा करतीं
जिसको प्राची पी लेता है चुपके-चुपके
औ' अमृत-कलश दे देता है नव ऊषा को
जो छलका देती है क्षिति पर
औ' सूर्योदय हो जाता है !

उस तरह आत्म-ज्ञानोदय होता मानव में
प्रत्येक साँस में किरणें आती-जाती हैं
नयनों में दो-दो सूर्य दिखाई पड़ते हैं
मुख से वाणी के संग ज्योति आती रहती
हाथों में कर्मालोक चमकता दिन-मणि सा
चरणों में किरणों की गति लिपटी रहती है
मन में रहती कल्पना विभा से भरी हुई
प्राणों के सरि में खिल जाते हैं रश्मि-पद्म
औ' आत्म ज्योति का केन्द्रस्थल हो जाता है !

आदमी वही जो देखे अपना सूक्ष्म रूप
आदमी वही जो मनन करे जग-जीवन का
आदमी वही जो पहचाने निज को पहले
तब देखे जग को सृजन-सत्य-संकल्प लिये

वह मानव जो देखता सर्वदा बाह्य रूप
वह तो द्वयपग-धारी पशु है
जो तृष्णा की ही प्यास बुझाता मृग-भ्रम-सा मरु के पथ पर

है दृश्य बुद्धि यदि ज्योतिपूर्ण
तो कहो नहीं जो है अदृश्य वह ज्योति-हीन,
वह अति ज्योतित आलोकित है
आखें न देख सकतीं सबको
अनुभव से बुद्धि चमकती है
अनुभूति देखती है रहस्य
तब ज्ञान उसे छू लेता है साधना-किरण-कर से सहसा !

आदमी रूप से एक चित्र,
रस और गन्ध से भी अपूर्ण,
परिपूर्ण साधना के बल से,
भौतिकता तो गति-जीवन का संघर्ष-स्वप्न
आध्यात्मिकता सूक्ष्मातिसूक्ष्म संज्योति-सत्य
जो मानव को देता पूर्णता-प्रसार सदा !
यह सहज साधना नहीं, एक अति कठिन कर्म
दौड़ता मनुज है शीघ्र सहजता के पथ पर
केवल तृष्णा के लिये, सुखों के लिये यहाँ
पर लक्ष्य कठिनता का जीवन-आलोक लिये--
है खड़ा मनुजता के समुद्र के पार वहाँ
जा रही इन्द्रियों की लहरों पर सत्य-तरी
मन-वचन-कर्म के कोलाहल के संग-संग
उर्मिला वहाँ तक जायेगी हे देवि, सुनो !

* * *

वातायन के सम्मुख पश्चिम में चाँद ढल रहा मन्द-मन्द
धीरे-धीरे है फैल रहा तम का प्रभाव
दक्षिणी हवा के प्रिय झोंके आ रहे कक्ष में बार-बार
कोमल सुवक्ष से शीतलता पूछती अकेली श्रद्धा से—
'हे स्निग्ध योगिनी विरह-मग्न
तूलिका तुम्हारी कहाँ छिपी है जीवन की ?
क्या तुम्हें ज्ञात है देवि !
मिलन की तृप्ति कला की नींद एक
जो सपनों से जगमग केवल
पर विरह मेघमय जिज्ञासा जागरण एक
जो भाव भरा संगीत-स्वयं
जिसमें मानव की कला आवरण खोल-खोल
बन्धन-विमुक्त करती बंदी दुख के मन को !

उर्मिले ! विरह के सभी वर्ष कट जायेंगे
तुम कला-सृष्टि का द्वार खोल दो हे आर्ये !
नयनों के जल से सप्त रँगों को घोल-घोल
साधना-तूलिका से खींचो प्रिय विरह-चित्र
जिसके प्राणों पर मिलन-दीप को जला-जला !
तुम भी विदेहिनी बनो स्वयं कर्माकुल कला-विचारों में !
जीवन का है उद्देश्य हर्ष, सुख, शान्ति, देवि !
तुम इसी लक्ष्य की शय्या पर
जलने दो विकल परिस्थिति की कम्पित प्रज्योति !/

वह मानव है जो स्वयं परिस्थिति-लहरों पर

खेता है जीवन की नौका लेकर उमंग
उस पार मिले या नहीं, नहीं इसकी चिन्ता
उसको तो जीवन को आगे ले जाना है
वह मानव सचमुच नहीं जोकि तट पर रह कर
देखता विश्व का सिन्धु, काँपता है भय से
छूता न कभी भी एक लहर अपने कर से
वह भी कोई क्या नाविक है जो डरता है तूफानों से
आँधी को उठते देख नाव तज देता है
लहरों के भय से दूर नहीं जा सकता है !

जो पूर्ण मनुजता पा लेता वह मनुज स्वयं आलोक पुरुष
वह स्वयं सत्य युग के स्वर का
करता है मानव योग-साधनापूर्ण मनुजता के हित ही
आदमी कर्म से ही परिचित होता जग में
इसलिये कर्म का योग मनुज-कल्याण-सत्य
जिसका प्रकाश इस धरती पर पड़ता समग्र
जन-गण-मन में चेतना एक आती हँसती
मानव महान है कर्मों से
सब धर्म कर्म के लिये बने
सत्कर्म रहित मानव का तप वह गगन हाय !
जिसमें न कहीं रवि शशि तारे
जिसमें न कभी घिरते बादल
मिट्टी पर, तप करता मानव, पर मिट्टी को कुछ देता है?

वह चाँद ढल गया पश्चिम में

जिस तरह महामानव की मृत्यु हुआ करती
सम्पूर्ण विश्व में घोर तिमिर छा जाता है
उस तरह चन्द्र के ढलने से छा रहा घना वह अन्धकार
जिस तरह मृत्यु की वेला में चेतना प्रबल उठती मन से
उस तरह उषा की प्रथम किरण आ रही गगन के नववन से।

उर्मिला कभी देखती इधर
उर्मिला कभी देखती उधर
जिस तरह जन्म औ' मरण निरखते जीवन को !

इतने में आई वहाँ माण्डवी ज्योतिमयी
काषाय वस्त्र में योग लपेटे जीवन के
छू रही अकेली वीणा को
भैरवी भर रही करुणा जल नयनों के दोनों पनघट से
आनन्द अधर से निकल रहा गति गीतों पर
तन्मयता का संगीत प्राण पर पिघल रहा
उर्मिला उँगलियों से खींचती अपूर्ण चित्र
केवल इंगित की रेखा से धीरे-धीरे
जो मिटते जाते क्षण-क्षण में
जिस तरह तरंगित लहर व्याप्त होती जाती है सागर में
जो भाव जहाँ से आते हैं वे भाव वहीं मिट जाते हैं
पर प्राण तटी से बार-बार टकरा कर कुछ कह जाते हैं

वह कला-काल कितना पवित्र जो नयनों में भर दे आँसू
प्राणों में भर दे प्रेम-ज्वार

जो करदे जीवन को विदेह
जो आशा को परिभाषा में करदे विलीन
जो प्राणों को दे फेंक कहीं उस पार जहाँ
धरती की उज्ज्वल ज्योति छू रही शान्ति व्योम
वह क्षण कितना आलोकपूर्ण
जिस समय कला ले जाती मानव को सुदूर
अपने कोमल कर में रख उसका सृजन हस्त
जब मुक्त चेतना हो जाती दृग में विभोर !

माण्डवी मुक्तकेशी निर्मल
संयमित तपस्या-पद्मासन पर रख सुबीन
है लीन कला में भावपूर्ण
जब से रे, नन्दीग्राम भरत से ज्योतित है
जब से है चरण-पादुका की पूजा होती

इस आर्य देश का त्याग और आदर्श चरम सीमा पर है
सोता है अनुज पर्ण पर ही सम्राट-शक्ति-गौरव लेकर
करता है कठिन तपस्या भाई के हित ही
अन्यायी माँ ने दिया स्वार्थ-साम्राज्य किन्तु
बन्धुत्व उसे त्यागता प्रेम-बलिदानों से
कहता है भाई श्रेष्ठ स्वर्ण-सिंहासन से ।
जिस तरह उधर करते हैं तप सम्राट भरत
साम्राज्ञी भी लगती है एक भिखारिन-सी
संयम की शोभा दीप्त बनाती जीवन को
साकेत-राज-प्रासाद नृपति के लिये बना
पर इसके भीतर एक तपस्या कानन है

जिसमें विदेह की ज्योति विचरती ध्यानमग्न !

है जेठ-पूर्णिमा शेष उष्ण शीतलता की चाँदनी लिये
उत्तर से पावस चला आ रहा मेघों की सेना लेकर
जय घोष सुनाई पड़ता है जब जलते हैं विद्युत-मशाल
बजते हैं जलद-मृदंग झकोरों के कर में
उत्तेजित करते इन्द्र बजा गर्जना-शंख
जल की हिलोर आरही झूमती सिंह-सदृश
चन्द्रमा छिप रहा पश्चिम के श्यामल वन में
अति विकल चकोरी उड़ती जाती है सुदूर
पर एक पपीहा कहता है पी कहाँ....
उधर ऊषा की डोली पर चढ़कर आती वर्षा
ऋतु की माता कर रही विदाई अश्रु लिये
रवि के रथ पर आ रहा मेघ लेकर असाढ़ की प्रथम घटा
ढोता आ रहा पवन केवल उस डोली को
किरणों के जय जयकार हो रहे पूरब में
सम्पूर्ण गगन श्यामलता में है डूब गया !

पावस का प्रिय साम्राज्य छा गया शक्तिपूर्ण
संगीत-वृष्टि से अवनी हर्षित हुई आज
माण्डवी उर्मिला से कहती--ईश्वर क्या है ?
उत्तर देती वह तुरत एक--
आत्मा की पूर्ण सफलता का अक्षय प्रकाश ही ईश्वर है
जिसकी छाया है चरम ज्ञान
जिसकी माया है मृत्यु-तिमिर

ग्रौ' जीवन जिसका बुद्धि-किरण
नास्तिकता जिसकी घोर तर्क
ग्रास्तिकता जिसकी नम्र भक्ति
मानव सहस्र उत्सुकता से देखता उसे
पर कहाँ दिखाई पड़ता है वह परम रूप

मानव ग्रपनी ही ग्रात्मा में ढूँढता उसे
ले ज्ञान ज्योति
ग्रौ' हो जाता है ज्योतिमान वह स्वयं कभी
जो ईश्वर को ढूँढता वही ईश्वरमय हो जाता भू पर
प्रतिबिम्ब प्राण पर पड़ जाता ग्रन्वेषण से
ग्रात्मा शरीर दोनों का है संग्राम यहाँ
दोनों का है ग्राधार सत्य
ग्रात्मा शरीर के पिंजड़े का पंछी ज्योतित
जो उड़ जायेगा कब, कैसे यह पता नहीं।

ग्रादमी बुद्धि से काल-कल्पना करता है
पर ज्ञान लक्ष्य को दूर-दूर ले जाता है
जिस ग्रोर एक उड़ती-सी ज्योति चमकती है
विश्वास शक्ति ही करती ईश्वर का ग्रनुभव
श्रद्धा से ही मन प्राण ढूँढते परम सत्य
ग्रन्यथा मनुज चिन्ता लेकर मर जाता है !

मानव है कर्म प्रधान यहाँ
है बुद्धि कर्म के लिये मिली
कर्मानुभूति के लिये ज्ञान ढूँढ़ता सत्य

इसलिये मनुज ही मानवता का स्रष्टा है
ईश्वर ने उसे चेतना की किरणें दे दीं
इसलिये मनुष्य धरा का सर्वोत्तम प्राणी ।

माण्डवी बीन के तारों को छू कर सहसा--
बोलने लगी हँसती हँसती--
तू ने सीता से सीखी है यह परिभाषा
वह कहती थी--मैं हूँ विदेह को आत्म ज्योति !
उस नन्दिग्राम की ओर माण्डवी निकल पड़ी
उर्मिला देखती रही उमड़ते बादल को
वर्षा की शीतल हवा प्राण तक जाती है
संगीत सजल भर जाता है दोनों दृग में--

गीत

यह असाढ़ का प्रथम दिवस है
रुक जाओ दक्षिण के बादल !
विरह-स्वप्न-गिरि-तप्त शिखर पर
विमल उर्मिला का अन्तरतर
विकल ज्वाल से झुलस चुका है
उतरो हे करुणा घन श्यामल !
नीर भरे ये दृग विश्वासी
मिलन पर्व हित नित अभिलाषी
ओ अनन्त के अश्रु ! हृदय पर
धर दो मृदु फुहियों का आँचल !
ले जाओ घन मन की भाषा
व्याप्त करो प्राणों में आशा
उड़ो लक्ष्य तक प्रिय दर्शन हित
हे बादल-दल कज्जल उज्ज्वल !
यह असाढ़ का प्रथम दिवस है
रुक जाओ अलका के बादल !

स्नेह-गगन में स्वप्न-निशा सँग
घिरी तैरती सुधि की बदरी
निकला चाँद घटा के घर से
लिपट गई चाँदनी लहर से
रूप-रश्मि उस तट से आकर
इस तट पर मुसका कर बिखरी ।
वातायन खुल गया तुम्हारा
फूट पड़ी गीतों की धारा
नयनों के यूथिका-गुच्छ पर
ज्योत्स्ना की सुन्दरता निखरी !
सुरभि-स्नात आशा की भाषा
खुली, खिली पाकर अभिलाषा
पावस बरस-बरस कर बीता
रीती रही प्यास की गगरी ।
स्नेह-गगन में स्वप्न-निशा-संग
घिरी तैरती सुधि की बदरी !

घोर घटा की एक ओर से
चमक उठी चाँदनी तुम्हारी !
बरसी तम के उर पर आशा
खिली कुमद-वन-सी अभिलाषा
प्यासे प्राणों के अनन्त में
गूँज उठी रागिनी तुम्हारी !
लहर-लहर पर उतरी माया
फैल गई धरती पर छाया
फूलों से शोभित कूलों पर
जाग उठी यामिनी तुम्हारी !
घोर घटा की एक ओर से
चमक उठी चाँदनी तुम्हारी !

कहीं-कहीं चाँदनी तुम्हारी
कहीं-कहीं पर घटा तुम्हारी !
यह वर्षा की विस्मय-क्रीड़ा
सदय हृदय में भरती पीड़ा
कहीं तुम्हारी उजियाली है
कहीं तुम्हारी है अँधियारी !
सुख-दुख-शोभित अवनी-अम्बर
है वसन्त के घर में पतझर
भींगी रहती करुणा-जल से
पुष्पित भू की क्यारी-क्यारी !
मधुर अमृत तो मधुर गरल भी
प्रेम दिव्य, वासना विमल भी
शूल-फूल की मधुर भूल में
धूल भरी प्रिय वसुधा सारी !
कहीं-कहीं चाँदनी तुम्हारी
कहीं-कहीं पर घटा तुम्हारी !

मेघ - रन्ध्र में मधुर रागिनी
घटा - नृत्य में गीत तुम्हारे !
निखिल गगन में जीवन - आशा
पर यह मन प्यासा का प्यासा
काले - काले घुँघराले घन
उमड़ रहे हैं नदी किनारे !
नयन - नयन में आओ बादल
दो समता का ममतामय जल
शुभ्र सत्य पर हे शिव - सुन्दर
उतरो जलधर पंख पसारे !
हरी भरी हो मन की अवनी
हो पुलकित श्रद्धा की जननी
विरही जीवन विरह - मुक्त हो
हों विलुप्त दुख के तम सारे !
मेघ - रन्ध्र में मधुर रागिनी
घटा - नृत्य में गीत तुम्हारे !

पानी की करुण कहानी से
पत्थर के टुकड़े भी झरते !
निष्ठुर अब मत आघात करो
बादल लेकर ही बात करो
भीषण वर्षा तूफानी से
सैकड़ों पपीहे भी मरते !
चातकी स्वाति - कण ही पीती
दो बूँदों पर ही तो जीती
तुम नभ के सागर को उड़ेल
हे करुणामय यह क्या करते !
उठती रहतीं आँधियाँ प्रबल
गिरती रहतीं बिजलियाँ चपल
पर प्रेम - मयूरी के तन - मन
हिलकोरों से न कभी डरते !
पानी की करुण कहानी से
पत्थर के टुकड़े भी झरते !

एकादश सर्ग

ज्ञानाग्नि-रक्त पद्मासन को कर्मोन्मुखी
शत शिखा-पंखड़ी पर बैठे
ध्यानानुरंजिता आंखों से देखते विदेह उषा की पहली किरण
गगन की नील वेणु से पवन-गान-आह्वान आ रहे मन्द-मन्द
धीरे-धीरे रश्मियाँ लता-सी फैल रहीं उर्मिल गति से
अरुणोज्ज्वल ज्योति-प्रशान्त सिन्धु में
खिलता एक प्रकाश-कमल
आलोक-अप्सरी उड़ा रही है नीड़-नीड़ से मुक्त विहग
अधखुले नयन में प्रतिबिम्बित सम्पूर्ण विश्व ।

प्राची की किरणमयी छवि पर नाचती नम्रता की छाया
कल्पना-ब्रह्म की एक घटा घिर रही उधर
संहार कर रही शिव-साधना तड़ित-बल से
झरते झर-झर बादल भू के पोषक सुविष्णु-हरियाली पर
शत-शिव-सुन्दर-संगीत सृष्टि की केन्द्र-बीन से निकल रहे ।

उच्छ्वसित रागिनी व्याप्त हो रही सभी ओर
मिथिला के आम्र-विपिन से भी आती हिलोर
सुन रहा हिमालय भी पुकार
उस पार हो रही एक दिव्य झंकार कहीं
रे वहीं देखते हैं विदेह विश्रान्त स्वप्न
जिसकी छाया में काल कर रहा है क्रीड़ा

संसार-सृजनमय कौतुक के दो शक्ति-पुष्प हाथों में ले
नित जन्म-मरण की मौलिकता झरती भू पर
नित-कोटि-कोटि ग्रह नाचा करते हैं ऊपर !

औ' इसी बीच यौवनोन्मत्त नर्त्तकी चतुर्दश
लिए रूप की स्वर्ग-शिखा
नूपुर में कामोद्दीपन की झंकार-सुरभि,
नयनों में मृग-मद का वासनोत्कर्ष
अधरों में चुम्बन का अनन्त पूर्णिमा-ज्वार
भंगिमा-भाव-अभिव्यक्ति कुंज में ले अनंग के चरम बाण
सुषमा-बाँहों में ले वसन्त के इन्द्रजाल
——आती, विदेह का आलिंगन करती, इच्छित——
अभिलाषा के अंगारों से !

यौवन-सुवक्ष की अमिय उष्णता ले स्वतन्त्रता के सुपंख
उड़ती विदेह की साँस-साँस में लिये शक्ति
पर किंचित भी अनुरक्ति नहीं खिलती मन पर
प्राणों को छाया भी न छू रही सपनों से
सर्वाङ्ग इन्द्रियाँ थक जातीं रूपसियों की !

केवल विदेह के अधरों पर हँस रही हँसी
इतने में प्रिय नर्त्तकी कंचुकी खोल गोद में सो जाती
वक्षस्थल पर रख लेती उन्नत एक हाथ अद्भुत नृप का
पर एक हाथ तप रहा अग्नि में मन्द-मन्द
यह महा सृष्टि का व्यंग्य देखता स्वयं सत्य
जिसकी अनन्त सुन्दरता है शिव-गंधमयी !

ऋषि भरद्वाज मतिमान इसी क्षण आये हैं
अपलक विसूक्ष्म दृग से देखते विराग-राग
अध्यात्म-चरण पर भौतिकता-सौन्दर्य-अर्घ्य
निर्लिप्त तपस्या सृष्टि-शिखर-साधना-लीन
साकार ब्रह्म-परमात्म ज्ञान उदगम-समक्ष
राजर्षि महान महर्षि-महोज्ज्वल से उज्ज्वल
जीवन का ज्योतित शेष प्रखरता के अशेष में लुप्त, व्याप्त
केवल शरीर ही दर्शनीय साधन-गृह में !

ऋषि ने विदेह-वंदना ध्यान की पलकों पर—
रख कर मन ही मन स्मरण किया तंद्रिल उर का
मस्तिष्क जहाँ हिम-सा गल कर था पिघल रहा
बुद्धिका-निर्झरी चन्द्र-किरण-सी फैल गई थी वहाँ
जहाँ उन्मुक्त मनुजता की सुशक्ति
विभ्राट मनुज बन जाती है
मानव महानता की लघुता में रहता लिये विराट् रूप
विज्ञान आत्म-विज्ञान नहीं छू सकता है
जिस तरह गगन के पार न कोई जा सकता
जाती केवल आत्मानुभूति साधना पंख को खोल-खोल
धरती पर रह कर ही अम्बर छूना पड़ता ।

आकाश-कुसुम तक तो विमान जा सकते हैं
नीलान्त व्योम तक आत्म-किरण हो जाती है
इस मिट्टी में इतनी परमाणु शक्ति मिलती
जब आत्मा में आध्यात्मिकता विकसित होती !

आलोकित जनक विशाल आज सम्मुख मेरे
जिनका विदेह-संगीत वहाँ से दूर-दूर
जिसके आगे कोई पहुँचा है या कि नहीं
यह कहे कौन ? मैं मौन प्रश्न की छाया में
इसका उत्तर वह कलाकार दे सकता है
जिसका चित्रण सम्पूर्ण प्रकृति की यह माया
जिसके अणु-अणु में सुप्त रहस्य छुपा रहता
विज्ञान ढूँढता जिसका केवल बाह्य रूप
दर्शन सीमा को छूकर ही रह जाता है
आदमी बुद्धि का बली हुआ जिसके बल से
पा सकता है बस स्वीय शक्ति से दिव्य ज्योति
कर सकता है सम्पूर्ण धरा को निर्मलतम
समता का स्वर्ण शरीर सुविकसित हो सकता
जा सकती है मानवता इतनी दूर-दूर।

पर आत्म-ज्ञान अत्यन्त कठिन
यह एक विराटोत्कर्ष शक्ति
जो विरले को मिलती भू पर
जब जीवन जल जाता अन्वेषण-लपटों से
अनुभूति शुभ्र हो जाती है चिन्तन-तप से
आनन्द उमड़ उठता है अन्तिम पीड़ा से
ब्रह्मांश प्राप्त हो जाता है साधन-वन में।

तब फिर मनुष्य ऊपर उठता भू पर रह कर
नीलिमा ज्योति से मिल कर आनन्दित होती
मानव अरूप का रूप ज्ञात कर लेता है

कल्याण-अश्रु को लिये भूमि पर ही रहता
अन्यथा पंख उड़ते रहते सूक्ष्मात्मा के ।

अन्तःपुर में नर्त्तकी नृत्य कर चली गई
राजर्षि विदेह जनक में परिवर्तित होकर
हो गये एक नृप मानवता अस्तित्व लिये
आलोक-किरण अम्बर से भू पर पिघल गई
खुल गये नयन-दल दिव्य ध्यान-विश्रान्त काल ।

देखा ऋषि भरद्वाज को किंचित विकल आज
अभिवादन के पश्चात कुशल की जिज्ञासा हो उठी तीव्र
बोले ऋषि, सीता-हरण हुआ रावण-द्वारा
आर्यापमान से दुखित आज सम्पूर्ण देश
हैं विकल राम दक्षिण-वन में
क्रोधाकुल लक्ष्मण गरज रहे
घनघोर युद्ध की महा समस्या आई है
मैंने विमान-निर्माण-हेतु की है चिन्ता
वैज्ञानिक अनुसन्धानपूर्ण कर लिखा शास्त्र
यदि हो विदेह-इच्छा तो निर्मित हों विमान
लंका जाने में सुविधा हो हे नृप यथेष्ट
साकेत-सैन्यदल जा सकते हैं उदधि पार
बलशाली रावण पर हो सकता है प्रहार
मैं चिन्तित हूँ हे जनक ! राम के लिये अधिक
मैं ही क्यों ? ऋषियों के सारे दल चिन्तित हैं
प्रत्येक व्यक्ति चिन्तित है इस निष्ठुरता पर

रावण वैज्ञानिक अस्त्रों का निर्माता है
अनगिनत सैन्य-दल का अमोघ अधिकारी है
सन्तान वीरतापूर्ण सबल
वह मेघनाद रावण का ही समकक्ष रूप
लंका में केवल स्वर्ण नहीं, है शक्ति प्रचुर
तब तो सीता का हरण किया उसने छल से
यह तो मिथिला का भी अपमान महान नृपति
मिथिला की भी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा जलती है
जानकी जनक-तनया है कोई नहीं और
यदि दशरथ जीवित होते तो कुछ कर पाते
हे जनक ! राम के पिता आप ही तो हैं अब
कीजिये सुरक्षा जीवन की हरियाली की
अन्यथा सकल साकेत और मिथिला के सिर झुक जायेंगे !

रावण शंकर का महा भक्त
अतुलित प्रबुद्धि का व्योम-बली
तन, मन, धन, जन से पूर्ण-पूर्ण
क्या नहीं मिला है लंका को
प्रत्येक प्रजा है स्वर्णोज्ज्वल
लंका रावण का कला-कुंज
पुष्पित उद्यानों से सुरभित
वैज्ञानिक शस्त्रों से सज्जित
बल के वरदानों से गर्वित
संगीत-नृत्य से कल्लोलित
उन्मत्त सुरारस से सिंचित

सुर की अप्सरियों से शोभित
शिक्षित, दीक्षित पुलकित जन-गण
प्राकृतिक दृश्यों से मुखरित
है चारों ओर समुद्र
इस तरह अति रक्षित
विद्युत-दीपों से ज्योतित भी
फल, फूल, अन्न, जल से पूरित
सारी सुविधाएँ मिली वहाँ
ईर्ष्याकुल अलका भी तो है
देवता देख कर डर जाते
इतना उन्नत है द्राविड़ का साम्राज्य सुखद
कोई भी वहाँ भिखारी नहीं भटकता है
इतना प्रबन्ध
इतनी क्षमता है रावण में ।

काँपते सभी उसके भय से
पुष्पक विमान भी छीन लिया
बेचारा दीन कुबेर दास उस रावण का !
जिसका मस्तक दश मस्तक से भी ऊँचा है
जिसके भय से राजेन्द्र काँपते हैं थर-थर
जल, पवन, अग्नि पर जिसका है अधिकार प्रचुर
जो मुक्त व्योम में विचरण करता दूर-दूर
जो नीतिमान, जो ज्ञानवान, जो शक्तिमान
सर्वांग समुज्ज्वल जिसकी वैभव की नगरी ।
सोने का वह संसार करेगा महायुद्ध
वनवासी केवल राम-बाण-तूफानों से

आर्यों का संकट अग्नि-ऊर्मि से भरा हुआ
कहिये विदेह क्या है उपाय ?

हँस पड़े जनक सुनकर बातें
ऋषि की लज्जा का क्रोध जागने लगा तनिक
विस्मय की जिज्ञासा नयनों में गरज उठी
लेकिन विदेह की हँसी व्यर्थ होती न कभी
यह जान महर्षि अवाक रहे नृप के सम्मुख
उस तरह कि जैसे जल सरोज का खिलना नहीं समझ पाता
अथवा हिंसा की ज्वाला मृग की कोमलता जानती नहीं।

गंभीर नम्रता के नयनों से देख-देख
बोलने लगे सम्राट् जनक धीरे-धीरे
जिस तरह शेष रजनी में पंछी कहता है--
आ रही किरण तम से हँसती
वे बोल उठे सूत्रों की निर्मल भाषा में
शास्त्रों की अति गहराई से
अनुभूति-ज्योति की वाणी में
अरुणात्म-ज्ञान की सभी पंखड़ी खोल-खोल--
"विज्ञान-दान से आत्म-ज्ञान का बल महान
हे मुने सौम्य ! जन-रमण राम श्रेष्ठातिश्रेष्ठ
आत्मा का ज्ञाता अति कठोर
वे स्वयं आत्म के सिद्ध पुरुष
जीवन के ज्वलित प्रतीक
और

यौवन के आत्मिक शक्ति रूप
जन-गण-मन के इच्छित अभिलाषा के न्यायी
जन-बल के युद्ध-प्रणेता भी
दक्षिण के द्राविड़ उनके न्याय प्रशंसक हैं
सीता की हरण-समस्या जन-संगठन-कर्म
हैं कुशल राम जन-नीति-निपुणता में युग से ।

देखा उस दिन राज्याभिषेक के समय ?
साकेत राज्य के जन-गण थे कितने आकुल
उस एक राम के लिये महा कोलाहल था
कैकेयी के वरदान स्वयं थे अति लज्जित
प्रभुता की छाया में भी आँसू उमड़ उठे
वरदान शुभ्र यदि अहंकार अपना ले तो
जल जाता है वह स्वयं कर्म-अंगारों से
उसका अस्तित्व न रह पाता अभिलाषा में
कैकेयी माँ है
वह उदारता की किरणों से उज्ज्वल है
लेकिन माँ ने ईर्ष्या का आश्रय लिया स्वयं
ईर्ष्या ने उसको जला दिया जीवन में ही
वरदान तारिकाओं-से टूट पड़े भू पर
बेचारे दशरथ क्या करते
वचनों की निष्ठुरता से थे वे बँधे हुए
क्या करते, वे भी चले गये चिन्ता लेकर
वरदान मृत्यु औ' जीवन दोनों ही तो है !

वरदान स्वयं अभिशाप बना करता है अपनी कटुता से

इसलिये ज्ञान की छाया में वरदान रहे तो सुन्दर है
वरदान न हो यदि जन-कल्याण जगत में तो
कहता है आत्मिक न्याय इसे ले लो वापस
अन्यथा ध्वंस विस्फोट-ज्वाल से मानवता
काँप जायेगी, इतिहास कलंकित होगा ही !

लेकिन वन का वरदान देखता हूँ उज्ज्वल ।
संकीर्ण परिस्थिति से भी सत्य निकलता है
दक्षिण प्रांगण में राम-भ्रमण है नव्य जागरण का प्रतीक
मानवता का संघर्ष ढूँढता सौम्य सत्य
रावण भी है वरदान-बोझ से दबा हुआ
वैज्ञानिक आविष्कारों से है लदा हुआ
छू रहा शक्ति का अहंकार गर्वोच्च शिखर !

लेकिन चरित्र की उज्ज्वलता हो रही नष्ट
अति घन-घमण्ड से ही तो विद्युत आती है
पर जब वह मेघ बरस जाता है पृथ्वी पर
केवल उजले बादल की छवि ही रह जाती है
उस शुभ्र शरद-गगनांगन की निर्मलता में !

माना लंका में सोना है
बल, बुद्धि और सेना भी है
प्रभुता के भीषण पर्वत हैं
सब कुछ है, सब कुछ है महर्षि !
लेकिन चरित्र का महा पतन है——महा पतन
मदिरा की नदियाँ बहती हैं

वासना-भोग की तृप्ति कालिमा जगा रही
अतिदुराचार का लोभ शक्ति को जला रहा
केवल शरीर का भोग एक अभिशाप स्वयं
आत्मा की निर्मलता से मनुज बली होता
चारित्रिक संयम से ही शोभा बढ़ती है ।

विज्ञान अगर कल्याण नहीं कर सकता है
तो जन-बल उसे जला देगा शव के समान
मनुष्यत्व चिता को फूँकेगा जग के समक्ष
संहार ! मनुजता का भीषण अभिशाप महा
दानवता का साकार तिमिर ।

पर सृजन !
मनुज की सफल कल्पना का कौतुक
कल्याण-चाँदनी की शोभा की अमिय-सृष्टि
संहार अगर जन गण-हित की साधना लिये
यह एक चरम कर्त्तव्य मनुज के जीवन का
औ' सृजन अगर केवल असत्य के लिये यहाँ
तो यह प्रलोभ-कल्पना नाश के हित ही तो !

रावण की लंका रावण के दैहिक भय से
है काँप रही युग-युग से मैं भी देख रहा
जन का जीवन-विद्रोह आत्म को उठा रहा
रावण की जनता रावण का परतंत्र दास
इसलिये वहाँ की मिट्टी पर हँस रही क्रान्ति
जिसकी पुकार आती न सिन्धु के पार यहाँ
केवल समुद्र को लहरें ही सुन रही वहाँ

वह कुम्भकर्ण नित सुरामत्त सोता केवल
वह मेघनाद भी अहंकार से अकुलाता
इस तरह सभी उसके अपने वैभव सपने में सोते हैं !
आत्मा की चेतनता का है सूर्यास्त वहाँ
बस कभी-कभी जब रावण-शिव-पूजा करता
उसकी चेतनता उठती है प्रिय प्राणों में
लेकिन द्रुत ही जब अहंकार चढ़ता सिर पर
प्रभुता के जब तूफान उठा करते मन में
वैभव की जब भीषण ज्वाला उठ जाती है
वह एक महा राक्षस रहता गौरवशाली
जिसके प्रगर्व से आत्म-ज्योति छुप जाती है
मानव-विहीन हो जाता है वह महा मनुज
जो विकल दशानन से प्रतिपल चिल्लाता है !

रावण ने नहीं चुराया है प्रिय सीता को
धन-बल-प्रभुता के अहंकार ने हरण किया
सीता रावण की स्वयं मृत्यु
अपहरण गरल को देख-देख उसकी प्रभुता मर जायेगी
विश्वास मुझे है ऋषि महान !
सीता का हरण कोटि जन का कल्याण स्वप्न
जो होगा द्रुत साकार स्वर्ण की लंका में ।

वह देश जहाँ समता का है आदर्श नहीं
उसका सिंहासन जल जायेगा जन-रव से
उसका नरेन्द्र मिट जायेगा अन्याय लिये
जन के तूफानों की थपकी से प्रभुता दीप बुझेंगे ही

वह देश जहाँ रावण होगा
मैं योग सत्य से कहता हूँ होगा दंडित
चाहे जो युग हो हे महर्षि,
जन की ज्वाला से प्रभुता जल जायेगी ही !
अत्याचारी शासन का होता सदा अन्त

रावण ही क्यों यदि राम यही करते अनर्थ
उनको भी तो सिंहासन से हटना होता
है न्याय सृष्टि के लिये व्यष्टि के लिये नहीं केवल उज्ज्वल।

माना, लंका में एक भिखारी नहीं वहाँ
खाने पीने को वहाँ पूर्णता का पहाड़
तन से यदि भूखा नहीं वहाँ कोई भी मानव है महर्षि,
मन से वह कितना दुर्बल है
देगा चरित्र की भीख कौन ?
छोटा सा तो वह टापू है
डाके भी देते हैं गर्वोन्नत मानव दल
लेकिन दक्षिण में भी तो रावण का प्रभुत्व
कितनी दुर्दशा वहाँ होती है मानव की
राक्षस आते तूफानों से
भय से नारियाँ छुपी रहतीं झोपड़ियों में !

लेकिन आर्यों का यह सुदेश
हैं कोटि-कोटि मानव जिसमें,
भीषण अकाल भी पड़ जाते हैं कभी-कभी
मर जाते हैं लाखों मानव
क्या करें नृपति

असहाय परिस्थिति आ जाती उनके सम्मुख
पर कभी कभी;

लेकिन श्रम करते हैं सशक्त दुर्भिक्ष टालने में नरपति
प्रत्येक दृष्टि से होती हैं चेष्टायें भी
हैं यहाँ भिखारी बहुत, जानता हूँ महर्षि,

मैं भी तो एक भिखारी हूँ
बल्कलधारी हूँ कन्द मूल फल खाता हूँ
रहता हूँ तो निज महलों में
करता हूँ निज साधना नग्न सौन्दर्य सत्य के बीच यहाँ
आते ही तो देखा होगा
कितनी विलासिता में निशि-दिन विचरण करता
आ रही हँसी
पर स्वयं समझ लो हे महर्षि !
यह कितना कठिन योग जीवन
सौन्दर्य नग्न हो जाय और मन रहे शान्त
यह मेरी साधन परिभाषा ?
चाहिये मनुज को बुद्धि और विज्ञान विमल
चाहिये मनुज को हृदय-शुद्धि संगीत तरल
आत्मा अभिलाषी है समता की किरण हेतु
यह आर्य देश परिपूर्ण सूर्य सा चमकेगा !

ऋषि भरद्वाज अति हर्षित हुये वचन सुन कर
हर्षाकुल हृदय अश्रु को दृग में जगा रहा
मिथिलेश चले मुनि को लेकर अन्तःपुर में

जिस ओर सुनयना रानी भोजन सजा रही
कुश के आसन के सम्मुख ही पुरइन के नीले पत्तों पर।
जिस तरह कृषक गृहिणी सजती है भक्तिपूर्ण
निर्मल थाली में प्रिय भोजन !
सामने कक्ष से मधुर रागिनी निकल रही
गीतिका-दृगी अध्यात्म-अश्रु से पिघल रही
स्वर-लहरी का आनन्द प्राण से टकराता
मुसकाता मन
संगीत-सिन्धु की लहरों पर
तैरता अरूप मुग्ध जीवन
रागात्मक मुक्त शरीर धीर
स्थिर कितना जग-चंचलता में !

द्वादश सर्ग

अर्द्ध रात्रि-वेला में
बैठा है शय्या पर मदिर शक्ति-गर्व-स्नात
रावण अभिमान में
दो विमुग्ध नर्त्तकियाँ देती हैं सुरा पात्र बार-बार यौवन को
लंकापति पीता ही जाता है हँस-हँस कर !

पलकों पर नींद-उर्वशी पुकारती उसे,
गुदगुदा रहा अनंग मत्तालस प्राणों को
निद्रा ने सुला लिया रावण को गोद में
नूपुर को बजा रही स्वप्न-परी मन्द-मन्द
रागिनी जगा रही सुषुप्त एक तार पर
रावण की स्वप्नमयी चेतना विचर रही चिन्ता की धार पर—
समस्त कामना समेत ।

कितना एकान्त एक गिरि के उस पार से
झाँक रहा चाँद और छिटक रही चाँदनी
रस भरी विभावरी सुमधुर मधुर लग रही
हरी-हरी लता स्वयं लगती है शुभ्र परी
विचर रहा रावण का चंचल मन कानन में
पहुँचा वह एक बार निज अशोक-आँगन में !

सोई है जानकी,

जल-जल कर दीपिका सतीत्व की
करती है रक्षा निज आत्म की !
सपने की आँखों से देख रहा लंकापति
काँप रहे अंग-अंग
भाग रही दूर-दूर मन की सारी उमंग,

इतनें में अति सशक्त मारुत हँस पड़ा तनिक
आँधी-सी उठी एक निद्रा की रात में
एक पीर विचर रही रावण के गात में
धूलमय हुआ गगन
मेघमय हुआ अनन्त
विद्युत से हुआ दीप्त तिमिर-स्नात दिगदिगन्त
खुलीं दृगी,
और कामना मृगी उदास स्तब्ध हो गई !

देख रहा रावण निज अन्तःपुर-दीप को,
मन्द-मन्द जलता है
कम्पित से प्राणों में भरता विह्वलता है
सोई हैं नर्त्तकियाँ रति-विलास-कक्ष में
जाग पड़ीं दोनों ही रावण की साँसों के विकल अहंकार से !
पुनः एक इंगित पर रिक्त पात्र भरा
और,
तीन बार पीने से
काम-क्रोध-कम्पन--
अति उत्तेजित शक्ति-निकट एक बार डर गया !

फिर भी लंकेश अभी
मन से गम्भीर है
प्राणों पर चिन्ता का चुपके से हाथ पकड़
नाच रही पीर है
मानस में लगा हुआ एक लौह तीर है !
सपने की छाँह को,
कुछ निराश औ' उदास आँखों से देख कर
वज्र-भुज निहारता
चंचल मन-रथ समेट
गति के दो अश्व को न वह तुरत सँवारता !

* * *

लोहित रवि ढल गया,
पृथ्वी से दूर-दूर वह तुरत निकल गया
सागर की गोद मे
लंका अति शान्त है
दिवस-शेष ज्वाला से
अंग-अंग क्लान्त है !
नभ पथ से उतर रही मन्द-मन्द एक परी
अन्धकार धारा पर बहती-सी आ रही--
सुस्निग्ध ज्योति की तरी
प्रसान्ध्य पवन बह रहा सनन-सनन
नूपुर ध्वनि हो रही झनन-झनन
गुंजित हैं रजनी के चरण-चरण
मुखरित है शैल-शिखर

विपिन-विपिन
लहर-लहर
डगर-डगर
हरित, भरित, वक्र सरित, लघु निर्झर !

बैठा चुपचाप अभी सोच रहा लंकापति--
लाया था सीता को अपने अभिमान के डोरे में बाँध कर
लाया था सीता को वन, पहाड़, नदी, झील,
सागर को लाँघ कर
उस दिन अति हर्षित था जीवन में प्रथम बार
लाया था सीता को नयन-तृप्ति-पंख पर
लाया था सीता को लंका के आँगन में प्रभुता के स्कंध पर !
लेकिन वह नारी तो संयम की ज्योति-मूर्त्ति
उसे देख-देख मदिर आँखें घबरा रहीं
पौरुष के पर्वत में दुर्बलता आ रही
रहती वह मग्न सदा एक राम-ध्यान में
करता है वास राम उसके मृदु प्राण में
वह सलज्ज सुन्दरी
कितनी है शक्ति-भरी
वह विदेह-नन्दिनी चरित्र-भैरवी प्रसन्न
मेरे व्यक्तित्व पर न उसको है मोह तनिक
प्रेमभरी आँखों से नित्य उसे देखता
किन्तु एक बार भी न मुझे देखती सप्रेम !
करता हूँ क्रोध नित्य उसके व्यवहार पर
किन्तु क्रोध आता ही नहीं प्रणय-वाक्य में
मधुर-मधुर वाणी से मैं उसे पुकारता

लेकिन मेरी पुकार व्यर्थ गई—व्यर्थ गई
पड़ा नहीं कुछ प्रभाव हाय, हृदय-वज्र पर !
आज प्रथम जाना यह
नारी भी होती है अति कठोर, अति कठोर
आज प्रथम जाना यह
संयम से रखती है नारी निज जीवन को !

सीता को लाकर मैं दोषी हूँ तनिक नहीं
दोषी है राम जो कि मेरी प्रिय बहन से
उलझ गया बन्धु-सहित
इतना ही नहीं,
रोषपूर्ण दुष्ट आर्य ने
रावण की भगिनी की नाक काट ली सहर्ष !
निर्दोषी नारी पर आर्य-पुत्र का प्रहार--
क्या है अन्याय नहीं ?
इतना ही नहीं,
मार डाला उस मानव ने मेरे दो भाई को
दण्डक वन में सहस्र सेना के साथ ही !

मैंने भी समझा जो उचित वही तो किया
इतना तो सत्य है कि सूर्पनखा क्रोधी है
बुरी-भली बात कही होगी प्रिय सीता को
और आर्य राम तुरत क्रोधाकुल होकर ही
टूट पड़ा होगा निज गर्व खड्ग को निकाल !
आया है जंगल में वह विहार करने या--
आया है बाण लिये राक्षस-संहार हेतु ?

कुछ भी हो, सोने का देश यह सुरक्षित है
लंका है घिरा हुआ सिन्धु की तरंग से
उसका क्या साहस जो सागर को पार करे
आयेगा यदि वह तो बच कर क्या जायेगा ?
मुझसे तो डरते हैं बड़े-बड़े देवता
एकाकी मेघनाद ही तो पर्याप्त है
उसके संग युद्ध-हेतु !
कर देगा अरि का वह लंका में अग्नि-दाह
क्योंकि सौम्य सीता का प्रिय पति तो भिक्षु है !

सीता का प्रेम कहीं मुझे मिल गया सहर्ष
तब तो इस लंका में आने की चेष्टाएँ
राम क्या करेगा भी ?
राम आर्य-पुत्र है,
आर्यों की बुद्धि सदा शंका की बदली से
घिरी हुई रहती है
रक्खेगा कभी नहीं जीवन में सीता को !

* * *

सीता के पाने में क्या मैं असमर्थ रहा ?
क्या मैं असमर्थ रहूँ ?
आर्य-सर्पिणी सदैव गरल ही उगल रही
क्या मैं तलवार तेज म्यान से निकाल दूँ ?
सुन्दरता-प्रतिमा को मार कर समुद्र में सरोष आज डाल दूँ ?
किन्तु क्रोध व्यर्थ है

क्या होगा मार कर ?
क्या होगा कोमल उस छवि का संहार कर ?
अनुपम सुन्दरता वह लंका की शोभा है !

द्राविड़ की बुद्धि से अगाध सिन्धु वक्ष पर
अटूट सेतु बन गया,
सहस्र सैन्य आ रहे प्रवीर दाक्षिणात्य से
और, राम-युद्ध-घोष लंका के भूतल पर हो रहा सहर्ष आज
मेरे ही मूर्ख बन्धु क्षीणमति बिभीषण ने साथ दिया राम का
वनिता मन्दोदरी न नीति जान सकी तनिक
आर्यों की भक्ति में विनम्र मुग्ध हो गई
सीता के आते ही बनी स्वामि-शिक्षिका,
ज्ञाता हूँ मैं महान वेद, शास्त्र विद्या का
देती उपदेश मुझे पत्नी की चिंतना––महान् आश्चर्य है !
कुछ भी हो,
सीता की प्राप्ति तो अटूट प्राण-लक्ष्य है !

* * *

चारों ओर हिलोर, पवन-झकझोर
गर्जित सिन्धु तरंगित क्षिति पर भोर
एक ओर ढल रहा चन्द्र-साम्राज्य
एक ओर रवि रंजित है घनघोर !

गिरि-शिखरों पर मंजु मेघ के कुंज
शोभित जिन पर किरण-प्रपुंज-प्रछाँह

उषा हँस रही पकड़-पकड़ कर मुग्ध
शेष निशा की श्यामल स्वप्निल बाँह !

मेघमयी लंका में शान्त, प्रशान्त
सीता सँजो रही नयनों में नीर
बजती मन-प्राणों पर सुधि की बीन
मिथिला तक उड़ता है गीति-समीर !

आती रह-रह कर बचपन की याद
जहाँ विदेह-स्नेह-सुषमा-संगीत
घेर-घेर इंगित करता चुपचाप
निर्मलता पर विचरित चपल अतीत !

छूते स्मृति की उत्सुकता के अश्रु
विकल उर्मिला की अन्तर-तर-पीर
उठती विद्युतभरी प्रतिध्वनि एक
कँप जाती कोमल प्रवासिनी धीर !

किन्तु ध्यान में एक अकेला राम,
लोचन में रघु-कुल-मणि का आलोक
करता हरण व्यथा-आवरण तमोष्ण
मिटते रहते प्रतिपल पीड़ा-शोक !

लरज-गरज अति उमड़-घुमड़ कर मेघ
बरस-बरस कर थम जाते कुछ देर
रुक-रुक, झुक-झुक झरते जल-संगीत
लेती चपला जलद-राग को घेर !

उठती मन में करुण अगीत-पुकार
प्राणों को धो देती पावस-वृष्टि
उठती आत्म-मिलन-जीवन-झंकार
खुलती शान्तिमयी सौन्दर्य-सुदृष्टि !

राग-वृन्त पर खिलते शब्द-प्रसून
जिन्हें तोड़ती द्रवित कल्पना कौन
मेघ-गीत-गृह में बैठी विश्रान्त
गीतिमयी सीता अगीत में मौन !

किन्तु रागिनी उड़-उड़ कर अति दूर
भेज रही प्रिय को उन्मुक्त सँदेश
प्राण-विहंगिनि छूती गगन अनन्त
गीत-पुष्प-गुच्छित घन-कन्या-केश !

किरणमयी घन-घटा देखती प्रात
निकल रही है तिमिर-प्रान्त से जोत
उड़ा आ रहा दूर-दूर से एक
लेकर पंखों में गति ज्वार कपोत !

ज्योतित गिरि, वन, वृक्ष-श्रेणियाँ फुल्ल
लता वल्लरी धूप-छाँह-छवि-युक्त
सजल फूल-फल विमल विभा से पूर्ण
आकुल सीता हर्षित भावोन्मुक्त !

मैं अशोक-वन में चिन्तित हूँ
हरो पीर लंका के बादल !

तुम असीम में विचरण करते
अवनी-कंठ-पिपासा हरते

बरस-बरस कर हे करुणा-जल,
करो विरह की ज्वाला शीतल !

सीता तुम्हें पुकार रही है
आँचल स्वयं पसार रही है

गरजो प्रिय-सम्मुख भी जाकर
करो प्राण-मन को अब विह्वल !

काल-स्रोत पर मैं बह आई
लहर-लहर पर मैं अकुलाई

हे अनन्त के अश्रु ! करो मत
मेरी मर्यादा को चंचल !

मैं अशोक-वन में चिन्तित हूँ
हरो पीर लंका के बादल !

कौन मौन घन के मृदु मन से
चुपके मुझे पुकार रहा है !
तपसी तन हो रहा प्रकम्पित
उमड़ रही हैं सुधियाँ संचित
साँसों पर आनन्द अकेला
मेरी पीर सँवार रहा है !
आज न दृग में नीर भरो हे
शरद-सदृश नभ में निखरो हे
सत्य, प्राण के बातायन से
रह-रह मुझे निहार रहा है !
जीवन पर पड़ती परछाईं
करुणा पर छाई अरुणाई
कौन हृदय के सिन्धु-तीर पर
आकुल प्यास उतार रहा है !
कौन मौन घन के मृदु मन से
चुपके मुझे पुकार रहा है !

तुम विमल बादल सजल प्रिय
मैं विकल सौदामिनी हूँ !
हूँ तुम्हीं में व्याप्त प्रतिपल
हूँ तुम्हारी शक्ति निर्मल
तुम कनक मधु प्रात-रवि-छवि
मैं किरण मृदु कामिनी हूँ !
तुम मिले हो प्राण-मन में
तुम खिले हो नयन-वन में
एक क्षिति पर तुम दिवस हो
मैं अलंकृत यामिनी हूँ !
ज्योति तुम, मैं जागरण हूँ
रूप तुम, मैं आवरण हूँ
जो तुम्हें स्वामी समझता
मैं उसी की स्वामिनी हूँ !
तुम विमल बादल सजल प्रिय
मैं विकल सौदामिनी हूँ !

मैं तुम्हारे गगन-गृह की
रश्मि-रंजित अरुणिमा हूँ !

निविड़ तम में मुस्कुराती
बाल रवि-दीपक जलाती

प्रिय तुम्हारे विरह-पथ में
मैं मिलन की मधुरिमा हूँ !

हर दिशा में एक इंगित
कर रहा है स्वप्न ज्योतित

तुम तिमिर के नील स्वर हो
गीतिका मैं स्वर्णिमा हूँ !

व्याप्त है संगीत-छाया
सत्य की मैं शुभ्र माया

प्रिय तुम्हारी नीलिमा में
मैं तुम्हारी लालिमा हूँ !

मैं तुम्हारे गगन-गृह की
रश्मि-रंजित अरुणिमा हूँ !

प्राणों पर दीपक जलता है !

बाहर अँधियाली छाई है
आँखें मेरी अकुलाई हैं

मन करता है अर्चन-पूजन
तन में कितनी विह्वलता है !

तुम ज्योति-वीथि से आते हो
सुधि के स्वर पर मुसकाते हो

तुम आते, प्राण सिहर जाते
यह कैसी प्रिय चंचलता है !

उर के दृग से तुम दूर नहीं
तुम हो जीवन के साथ यहीं

साक्षी हो अविरल साँसों के
प्रिय, फिर भी क्यों आकुलता है !

प्राणों पर दीपक जलता है !

मानव-मन तो अकुलाता है !
जब दुख के बादल छा जाते
ये प्राण हाय, अकुला जाते
एकाकी सागर के तट पर
मानव-मन तो घबराता है !
पीड़ा की जब उठती तरंग
बेसुध हो जाते अंग-अंग
डगमग नौका को देख-देख
मानव-मस्तक चकराता है !
जब तुम प्रकाश भर देते हो
तम में इंगित कर देते हो
विश्वास, आस-आभास लिये
मानव-मन तो मुसकाता है !
मानव-मन तो अकुलाता है !

प्रिय, पीड़ाओं से मुक्त करो !
नित घटा व्यथा की घिर आती
आहों से आँखें भर जातीं
मैं कठिन क्लेश से कम्पित हूँ
प्रिय, विरह और सन्ताप हरो !
तुम दुख के हरने वाले हो।
तुम सब कुछ करने वाले हो
अति तिमिर दूर कर जीवन से
प्रिय हे ! असीम आलोक भरो ?
नारी-नौका करती डगमग
लहरों का मग, हिल जाते पग
उर में तुम विचरण करते हो
तुम सम्मुख आकर भी विचरो !
प्रिय, पीड़ाओं से मुक्त करो !

तुम लंका में कब आओगे ?

विश्वास प्रार्थना करता है
आशा पर सत्य विचरता है

तूफान और आँधी लेकर
तुम सागर पर कब गाओगे ?

हे प्राण मुझे मत बिसराओ !
इस पार यहाँ तक अब आओ !

तुम जल-पथ पर जय-ज्योति लिये
कब कुल-कर्त्तव्य निभाओगे ?

मैं छल के बल पर आई हूँ
दुख के घर में अकुलाई हूँ

तुम मानव हो, लंका में कब
विकसित मनुष्यता लाओगे ?

तुम लंका में कब आओगे ?

तुम मधुर-मधुर मुसका जाते !

जब मन उदास हो जाता है
विश्वास थकित सो जाता है

प्राणों को यों छूकर प्रिय हे
अन्तर-संगीत सुना जाते !

शीतल कितनी सुधि की छाया
है मोहमयी मानव-माया

तुम खोल सजल पल-दल चुपके
नित आत्म-स्वरूप दिखा जाते !

प्राणों को प्राणों से ममता
मन को मन से कितनी समता

जो अश्रु न दृग तक आ पाते
तुम उन्हें तुरत बिखरा जाते !

तुम मधुर-मधुर मुसका जाते !

त्रयोदश सर्ग

रावण के अनजान प्राण पर
लगा राम का तीर
टूट गई इस महासमर से
लंका की जंजीर

विजय-घोष से गूँज गये
सागर के दोनों कूल
उड़ने लगी गगन में सहसा
सत्य-ज्योति की धूल !

वह रावण धरती पर सोया
रक्त निहार रहा है
प्रभुता का सम्राट् स्वयं
निज हाथ पसार रहा है

दश मस्तक की शक्ति
मृत्यु में त्याग रही अभिलाषा
महा काल हँस रहा सामने
लिए विदा की भाषा

अहंकार-वासना क्रोध का
सूर्य ढल रहा चुपके
शेष किरण देखती किसी को
बार-बार लुक-छुप के !

याद आ रही उस विदेह की
रावण को इस क्षण में
जिसकी ज्योति-नन्दिनी बैठी
है अशोक के वन में

ओ अनन्त ! रावण ने जग को
अक्षय पाप दिया है
क्षमा करो हे सत्य ! स्वयं
मैंने विष-पान किया है

ईर्ष्याकुल वासना ज्ञान के
सिर पर जब चढ़ जाती
मानव की सम्पूर्ण बुद्धि
वश में न कभी रह पाती

लोभ पतन की जिज्ञासा है
कपट नाश की छाया
नीतिवान वह देश कि जिसने
न्याय-सत्य अपनाया

देख रहे रावण को मरते
स्वयं सुमित्रानन्दन
नींद आ रही है आंखों में
उड़ा जा रहा जीवन

ओ लंका ! मर गया दशानन
उज्ज्वल एक कफन दो

सिन्धु-तीर पर चिता जला कर
आंसू के दो कण दो

युग के महाबली के शव पर
दो करुणा की छाया
नारि-निर्मला मन्दोदरि के
पति की है यह काया

बार बार इसने रावण को
रोका था तम-पथ से
पर अभिमान न उतरा अपनी
गर्व-बुद्धि के रथ से

मन्दोदरी रक्त से धोती
है सुहाग की लाली
झुकी हुई है अश्रु-भार से
करुणा को मृदु डाली

पति-विहीन नारी का जीवन
अकुलाता क्षण-क्षण में
उठती अग्नि ज्वाल रह-रह कर
कुसुमित यौवन-वन में

चिता जल रही है रावण की
लंका के आंगन में
द्वन्द्व उठ रहे कभी-कभी
विश्रान्त विभीषण-मन में

लंका वीर-विहीन हो गया
सत्य छोड़ने से ही
मानव प्रति मानव बनता है
प्रेम जोड़ने से ही !

अन्यायी चाहे जो हो वह
अरि है मानवता का
देता है इतिहास सत्य के
कर में कीर्ति-पताका

लक्ष्मण ने अभिषेक किया
रामाज्ञा से उस नर का
साथ दिया जिसने लंका में
प्रिय सत-शिव-सुन्दर का !

राष्ट्र-नीति से विश्व-न्याय का
मूल्य अधिक होता है
विश्व-बन्धु वह मानव है
जो सत्य बीज बोता है

सत्य देश की सीमा के
बंन्धन में बँध न सकेगा
विश्व-नीति का स्रष्टा
धरती पर उन्मुक्त रहेगा

वह मानव जो आत्म-ज्योति से
करता जग आलोकित

चिर वसन्त-सम शोभित

वह भी न्यायी देश भला
बन्धुत्व न जिसमें जग का ?
पूर्ण मनुजता लक्ष्य पथिक है
एक विश्व के मग का

मनु का वंश समस्त मनुज है
धरती मानवता की
यह समस्त संसार एक--
परिवार-ज्योति समता की

बोल रहे हैं राम स्वर्ण--
लंका की प्रिय मिट्टी पर
सुनता है इतिहास युग-पुरुष
के मुख से निकला स्वर

हाय, राम रो रहे आज
लंका में भला हुआ क्या ?
सजल अश्रु पर उतर रही है
शत सुधियों की राका !

सीता की पावन स्मृतियों के
आते रह-रह झोंके
उड़ने वाले प्राण-विहग को
कोई कैसे रोके !

महायुद्ध के बाद कहीं से
कोयल बोल रही है
प्राण-प्रिया अपने सुहाग की
घूँघट खोल रही है

ओ विदेह कन्या ! अशोक के
वन से अब तो आओ
एक बार हे देवि ! राम के
सम्मुख अब मुसकाओ !

बहुत दिनों के बाद नयन से
तुम्हें देख पाऊँगा
तुम्हें देखते ही मृगनयनी !
हर्षित हो जाऊँगा !

जाओ हे अंजनि-कुमार,
हे नृपति विभीषण जाओ
जनक-नन्दिनी को अपने
पति के सम्मुख ले जाओ

करता है साकेत प्रतीक्षा
अब मेरे आने की
आई वह वेला पुर-जन से
मिलकर मुसकाने की

बीत रहे हैं वर्ष चतुर्दश
आती याद भरत की

कहती हैं कुछ बात कान में
सांसें स्वच्छ शरद की

हाय, तपस्विनि एक नारि
कितनी अकुलाती होगी
शयन-कक्ष के दीपों पर
आँसू बरसाती होगी

उस विदेह-पुत्री ने जल कर
सौरभ-दान दिया है
लक्ष्मण को देकर सहर्ष
भू का कल्याण किया है

उस पर या सीता पर किस पर
गर्व करूँ इस क्षण में
चौंकी किरणमयी बिजली
दोनों के ही जीवन में !

दोनों के नयनों के जल से
सत्य हुआ है सिंचित
दोनों की अन्तर्वीणा के
तार हुए हैं झंकृत !

चिन्ता की शय्या पर बैठे हैं रामचन्द्र
करती है उर-पुर में नृत्य पीर-नर्तकी
क्लेश, कष्ट, विपद, दुःख और नव व्यथाओं के

बजते हैं बाजे मृदु प्राणों के आस-पास
कौन बता सकता है कितना है मन उदास
एक-एक साँस सघन करुणा से ओत-प्रोत !

अरे, कौन मानस में लुक-छुप कर कहता है--
वर्षों के बाद आज आती है जानकी
राम तुम्हें चिन्ता है उज्ज्वल अभिमान की ?
याद रहे रघुकुल के ज्योतिर्मय पुत्र हो
सत्य को समाज में सुप्रकट करो निश्चय तुम
साक्षी दो सीता का भरी सभा बीच में !
किसे गर्व नहीं राम जानकी-चरित्र पर
वह विदेह-नन्दिनी विशुद्ध ज्योतिपूर्ण है
शिक्षित है हुई महाजनक-ज्ञान-छाँह में
वह विदेह की समस्त किरणों की आभा है !

नारी के विश्व में
ऐसी वह नारी है जिसमें निर्मलता है
है कलंक नहीं तनिक
तुम भी पुरुषोत्तम हो राम तनिक सोच लो
ज्ञात सकल विश्व को कि रावण के महलों को
सीता ने देखा है
कोई यदि कह दे हे राम एक बात भी
कोई यदि कह दे, सीता तम-स्नात तनिक है
आर्यों की शोभा पर काली परछाईं को पड़ने दो नहीं राम !
एक बार नहीं राम, बार-बार सोच लो

रवि-कुल के सूर्य, तुम हजार बार सोच लो
दुर्बल-अति दुर्बल हैं आँखें आलोचक की
आँखें तो नित विशुद्ध कंचन को जाँचतीं
चाहे वह कोई भी सोने को बेचे, पर
मानव संदिग्ध है
पत्थर पर घिसेगा उसको स्वीय इच्छा से !
पापी वह कौन जो कि कहे कुल कलंकिनी
उस पवित्र सीता को––प्रेममय पुनीता को
लेकिन हे राम ! उठे ऐसी क्यों कल्पना ?
अवसर ही आये क्यों ऐसा फिर जीवन में
अथवा इस जीवन के बाद किसी काल में ?
राम का चरित्र परम पावन, मन-भावन है
तो फिर क्यों सीता का सत्य रहे गोपनीय ?
दिनमणि की आभा को बादल क्यों घेर ले ?
अपनी सुन्दरता को प्रकट करो राम आज
जीवन को ज्वलित करो जन-मन के आँगन में।

टूट गया तार एक विकल-द्वन्द्व-बीन का
मन-ही मन राम सोच रहे सत्य-स्वप्न में––
"मुझ को विश्वास सौम्य सीता के प्रेम पर
नर को विश्वास है जब अपनी नारी पर
प्रेम की परीक्षा फिर लेगा संसार क्यों ?
लेकिन संसार कहीं मुझसे ही पूछ दे
सीता का आचरण कैसे है शुभ्र राम !
उत्तर क्या दूँगा मैं ?

बात क्या कहूँगा मैं ?
आत्मा के सौरभ को वाणी की तूली से
चित्रित कर पाऊँगा कैसे विश्वास से ?
उज्ज्वल आधार नहीं,
वाणी की वीणा में ऐसी झंकार नहीं
प्रश्नों की छाया में सीता है शंकिता-कलंकिता !
लेकिन किन शब्दों में उससे मैं बोलूँगा
यह रहस्य-द्वार भला कैसे मैं खोलूँगा ?
यह तो अपमान घोर, सीता का, मेरा भी !

लेकिन यह मेरी दुर्बलता है जीवन की
स्वार्थमयी करुणा है यौवन-सौन्दर्य की
विकल मोह-माया पर मन की यह चाँदनी–
शीतलता भरती है नयनों के ओस से
लोभ-सुरा पीना तो रघुकुल की रीति नहीं
ऊंची है सत्य से नारी की प्रीति नहीं
धरती ही माता है मेरी प्रिय सीता की
धरती पर विचरेगी मेरे आदेश से !

लेकिन यह किसने कहा कि वह कलंकमयी ?
किसका निर्देश है ?
किसकी यह कल्पना ?
किसने यह सोचा है ?
किसका यह कठिन प्रश्न ?
कौन है अजान प्राण ?

किसका तूफान आज मुझको ललकारता ?
कौन वह विचारवान, ज्ञानवान, सत्यवान ?

मैं ही तो प्रश्नों का सृजनहार स्रष्टा हूँ
तन से मैं मोही हूँ, आत्मा से द्रोही हूँ
बाहर की आँखों में ममता के मोती हैं
भीतर के नयनों में न्यायपूर्ण ज्योति है
सीता के लिये हाय ऊपर से दोषी हूँ
और सत्य के समक्ष भीतर निर्दोषी हूँ।

न्याय के निकट समस्त नारी हैं एक-सी
चाहे हो नृपति-प्रिया अथवा हो दास-प्रिया
सत्य के समक्ष न्याय होता है एक-सा
वह विदेह-नंदिनी समाज की समीक्षा में
निश्चय अपराधी है शंका के सत्य पर
लंका में राम उसे त्यागेगा आज ही !

हे विदेह ! क्षमा करो मेरी इस कटुता पर
शंका का एक प्रश्न उत्तर से हीन है !
सीता हे ! क्षमा करो तुम अपने राम को
प्रेमाकुल राम क्षमा माँग रहा जीवन में
कर्माकुल राम किन्तु सत्य को पुकारता
एक साथ प्राणों पर मोह और ज्ञान के दो प्रदीप जलते हैं
प्राणों के मध्य में प्रकाश है उतर रहा
मैं अवाक् मौन हूँ अशान्त शान्त वेला में

* * *

हर्ष-शरद-ज्वार लिये आ रही विदेह-ज्योति
पलकों पर मिलन अश्रु-फूल हैं वसन्त युक्त
साँसों की प्रेम-सुरभि फैल रही सभी ओर
प्राणों पर अभिलाषा करती है नृत्य नवल
विमल अंग-अंग में तरंग विजय-सिन्धु की,
अधर उमंगपूर्ण, वक्ष सिहरन से ओत-प्रोत
नयनों में राम, प्रेम उत्सुकता पर सुचित्र
कल्पना गगन सहस्त्र इन्द्रधनुष-छटा-पूर्ण
भावना-धरा अनन्त फूलों से फुल्ल-फुल्ल
मन में संगीत, विकल तन में आनन्द प्रीत।

पुष्प-सदृश झूलती सुरत्न जटित पालकी
चली आ रही विदेह तनया को लिये हुये
आ रहे विभीषण भी संग-संग पैदल ही सीता-सम्मान में
बजते हैं वाद्य वृन्द जीवन उल्लास के, प्रेम मिलन हास के !
एक शिला-खण्ड पर, बैठे हैं राम विकल
लक्ष्मण हैं खड़े शूर वीर सभी बैठे हैं
डोली को देख रहे सभी एक दृष्टि से।

रुकी पालकी, विदेह नन्दिनी उतर गई
और राम दर्शन से एक बार सिहर गई
लक्ष्मण ने चरणों को छू कर की वन्दना
निकलें कल्याण शब्द सीता के स्नेह से
किन्तु राम वज्र के समान हैं कठोर मौन
और मोम जैसी वह जानकी पिघल रही
करुणा के आँचल में माँग रही प्रेम दान

नयनों में नम्र अश्रु, प्राणों में प्रणय गान

किन्तु राम स्तब्ध मौन, निष्ठुर पाषाण पुरुष—
के समान ध्यानमग्न !

विकल सभा-मध्य में प्रसार किया राघव ने
शंका का जटिल प्रश्न
लंका में एक बार सन्नाटा छा गया
कोलाहल हुआ पुनः जन-मन के प्राणों में
शंका की आँधी से सीता की प्रेम-लता
जीवन की विटपी से बिखर गई भूमि पर
वसुधा पर गिरी हाय, एक बार मूच्छित हो
काँप गई मिट्टी भी सीता के रुदन से
अश्रु-स्नात हुये सभी नारी के अश्रु से।
लक्ष्मण की आँखें भी पिघल गईं करुणा से
प्राण-प्राण सिहर गये प्रिय की निष्ठुरता से
मन-ही-मन भाई ने भाई पर क्रोध किया
चाहा कुछ कहना पर मन ने ही रोक दिया
मन-ही-मन सेना ने स्वामी पर क्रोध किया
किन्तु राम के समक्ष एक शब्द भी न उठा
सीता के लिये एक शब्द हाय, आज नहीं !
नारी हे ! उठो स्वयं—कहता है आत्म-ज्ञान
शंकाकुल सपने का खोलो हे द्वार देवि !
बोलो तुम स्वयं आज मानव के सत्य से
अबला भी नारी है, सबला भी नारी है

नारी है शक्ति, भक्ति, नारी·अनुरक्ति है
नारी है शान्ति और नारी है क्रान्ति भी
नारी अंगार और प्यार-ज्वार दोनों है
कन्या है, वधू है, माता है एक साथ
चपला है, शीला है, और वह गम्भीरा भी !

मिट्टी से मस्तक को उठा रही जानकी--

मानव की आँखों में शक का ही रोग है
निरख नहीं पाता है आत्मा की शुद्धता !
करुणा से सराबोर बोल उठी सीता अब--
वाणी के बाण से न मारो हे नाथ ! मुझे
मैं हूँ असहाय नहीं, साथ एक सत्य है
मुझ पर विश्वास करो प्राण-नाथ प्राणों से
मैं विदेह-कन्या हूँ, शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ
रवि-कुल की शोभा हूँ, रवि-कुल की आभा हूँ
घोर आश्चर्य है कि मुझ पर संदेह है
रघुकुल के सूर्य को
साक्षी है गगन, अवनि, दिगदिगन्त, गिरि, समुद्र
सीता के जीवन में शंका की घटा नहीं !
निकला हे नाथ आज कैसे यह वज्र-वचन
रघु-कुल के मुख की यह कैसी कटु वाणी है !

फूट पड़े सभी एक बार इस विलाप से
किन्तु राम जैसे थे, वैसे ही अब भी हैं

पुरुष कर्म-अग्नि ने, नारी के आँसू को जला दिया ज्वाला से
जली नहीं करुणा की भाषा अंगार में
बोल उठी सीता फिर सजल आत्म-क्रोध से—
कर दो तैयार शीघ्र एक चिता लक्ष्मण हे !
सीता की मृत्यु स्वर्ण-लंका के युद्ध का अन्तिम परिणाम है
सुन्दर सौभाग्य है कि पति मेरे सम्मुख हैं
मैं हूँ सौभाग्यवती, प्रेममयी शुद्ध सती !
फूट गया भाग्य किन्तु हाय उस विदेह का
सीता अपवित्र नहीं, मिथिला अपवित्र हुई
रोओ मत लक्ष्मण हे ! चिता एक रच दो अब
शंका से युक्त यह कलंक-भार मिथ्या है
रहने दो जीवन को अपयश से दूर ही
सीता अब जलकर ही स्निग्ध शान्ति पायेगी
नर को यदि गर्व है कर्माभिमान पर
नारी भी गर्वित है अपने नारीत्व पर !

राम के समक्ष एक शंका की भूमि पर
धधक रही चिता एक लाल-लाल लपटों से
शेष हुई सीता की प्राण-प्रिय-प्रदक्षिणा
एक बार राम ने निहार लिया वनिता को
आँसू भी निकल गये नयनों के सत्य से
और जनक-नन्दिनी सुज्योतिमयी जानकी
हाथ जोड़ती हुई समा गई सुज्वाल में
किन्तु स्वर्ण-सत्य और भी प्रदीप्त हो गया
अग्नि शेष हो गई, न शेष हुई शुभ्रता

धुल गया कलंक उस विदेह-योग-रश्मि का
शंका का अग्नि-भस्म राम ने उठा लिया !
(अब भी साकेत के विमल अतीत कक्ष में
एक ओर सीता का स्वर्ण-भस्म रक्खा है !)

चतुर्दश सर्ग

उत्तुंग हिमालय-शिखर-गर्व-सा हो आकुल
उस आदि महाकवि वाल्मीकि ने कहा दाहिना हाथ उठा—
ओ राम ! संयमित नयनों में क्या अश्रु नहीं ?
जीवन-कठोरता के पत्थर से निर्झरिणी भी बहती है
प्रज्वलित सत्य की अग्नि स्वयं करुणा का शीतल वाष्प बना
कुछ ओस गिरा देती है अपने प्राणों पर
मानव का हृदय बुद्धि के सूखे पत्तों को
जब धो देता है चुपके से उमड़ी आँखों के पानी से
तब ज्ञान कर्म के सिंहासन पर खिलता है !
तुमने पाई है ज्योति जनक के जीवन से
वह ज्योति तुम्हारी सीता-परम पुनीता है
तुम भूल गये हे राम स्यात उस दिन प्रेमिल
मिथिला से कुछ आँसू भी तो लेते आते
करुणा की घटा दृगों में भर लेते कुछ भी
सीता को देते समय जनक भी रोये थे
उनके लोचन में भी इतिहास-कहानी थी
प्राणों के पर्वत पर बरसात उमड़ती थी
सीता आध्यात्मिक कन्या है अति मानव की
जीवन भर जलती रही सत्य-अंगारों में
तुमने विदेह-प्रतिमा की अग्नि-परीक्षा ली
लोकापवाद के ही भय से

उठ सकी नहीं झंकार तर्क की कोई भी
साकेत-ज्ञान उस आत्म-सत्य को पा न सका
वाणी ही तो हो गई मौन भय से विष से
सुकुमारी नारी आग चबाने लगी हाय
कितनी कठोरता है, हे पुरुष तुम्हारी यह !
सीता की कठिन परीक्षा, मिथिला का महान अपमान
सत्य के ओ असीम तूफान ! आज मैं कहता हूँ
मेरी भी घोर तपस्या है——सैकड़ों, हजारों वर्षों की
मन, कर्म और वाणी से हूँ शुद्धातिशुद्ध
यदि किंचित भी कोई कलंक हो सीता में
मैं हाथ उठा कर कहता हूँ समक्ष——
"हो जाय तपस्या भंग सहस्त्रों वर्षों की मेरी इस क्षण"
साकेत-बीन के तारों को तोड़ता हुआ
ऋषि का कोलाहल लगा व्योम को भी छूने
इतिहास देखने लगा राम की ओर स्तब्ध
ढुलके कपोल पर आँसू के दो बूँद शुभ्र
दोनों में रवि-शशि की प्रकाश-चाँदनी मिली
साकेत-राज-प्रासाद मौन तम के समान
दो बूँद——राम के नयनों के दो बूँद अश्रु
इतिहास ! कहाँ तुम रक्खोगे इन हीरों को
यह तो मिथिला की शोभा है
यह तो विदेह की आत्मा है
नयनों के तट पर ये जो हैं दो सर्ग खड़े
सीता के सुख के बादल हैं
उसकी उमंग की बिजली भी कौंधती आज

ओ राम, तुम्हारे नयनों के आकाश घटाओं से शोभित !

लेकिन सीता के मन का मोर न नाच सका
हे बालमीकि ! यह कौन कहेगा आज यहाँ
सीता ने नयनों की मुस्कान नहीं देखी !
वह तो निहारती है पति का ही मुखमण्डल
उसके दृग में भी अश्रु-फूल हैं खिले हुये
कितने वर्षों के बाद
तपित नारी आई अपने गृह में
झूठे कलंक के सभी चिह्न हैं धुले हुये
माँ के सपने साकार बनाकर आई है
लज्जा के दो वातायन भी हैं खुले हुये
जिसके आगे गंभीर जलद के दो टुकड़े कितने प्रशान्त
शीतोष्ण सान्ध्य उर्मिल समीर-सी साँसें भी
आतीं, जातीं प्राणों के मलय-हृदय-वन से
निर्मल पवित्रता-सुरभि फैलती है सुदूर !

हैं जनक-सखा ऋषि बालमीकि
इसलिए जनक-तनया इनकी भी तो कन्या
तमसा के तट पर ऋषि के आश्रम में ही तो
सीता के आँचल में प्राणों के लाल मिले
'बाबा' कहकर लव-कुश ने प्रथम पुकारा था
कितनी ममता है सीता के हित मुनि कवि को
इनके चरणों की छाया पर यह बैठी है
साकेत-प्रतिष्ठा जिसको नहीं उठा सकती
वह इतनी स्वयं प्रतिष्ठित है, आलोकित है !

वह बोल उठी जैसे विनम्र आँधी बोलती हवाओं से–
"हे मेरी नैसर्गिक जननी, पुण्या धरती
यदि मैं पवित्र हूँ—अति पवित्र
प्रत्येक साँस में राम व्याप्त हैं यदि मेरे
मन-कर्म और वाणी-निकुंज के प्राणों पर
यदि सत्य लिये मैं हूँ अब तक प्रिय के समक्ष
हे धरा ! जनक-तनया को निज में लो समेट
सीता की एक परीक्षा अब तक रही शेष !'
साकेत-भवन में हुआ एक भूकम्प आज
फट गई ज्वलित मिट्टी सहसा सबके सम्मुख
कवि वाल्मीकि तक चौंक उठे यह दृश्य देख
सीता धरती में समा गई विद्युत-गति से
कँप गया जनक का सिंहासन भी एक बार
जिस पर विदेह बैठे हैं निज साधना लिये
आलोक-योग की इच्छा पर नाचने लगा सम्पूर्ण विश्व
अति दिव्य दृष्टि में समा गये सारे सपने
मेरी बेटी—आध्यात्मशक्ति की प्रिय पुत्री
हो गई विलीन धरा-गृह में ?
ओ राम, तुम्हारी आँखों से आँसू भी गिरे कि नहीं बोलो ?
मैंने दी ज्योति तुम्हें अपनी
तुमने विलीन कर दी उसको
सीता-विहीन हे राम, आज निज को तौलो
तुम सीता पाकर शक्तिमान थे या कि नहीं
तुमने विदेह-पुत्री पर भी सन्देह किया
उस पुत्री पर जो शिव का धनुष उठाती थी

रावण का भौतिक बल न जिसे था उठा सका
लोकापवाद मिथ्या भी होते हैं राजन्
साकेत नहीं कर सका सत्य का समाधान
मेरी सीता ने अग्नि-परीक्षा दी जग में
हे राम, व्यास ने भेजा था अपने सुत को
बस आत्म-ज्ञान के लिये कभी मेरे गृह में
साकेत ! तुम्हें भी तो मिथिला में आना था
दे सकता था उत्तर विदेह प्रिय प्रश्नों का
सम्राट नहीं, मैं योगी एक भिखारी हूँ
हूँ प्रथम एक मैं मनुज और तब ज्ञानी हूँ
तब हूँ विदेह विश्रान्त, शान्त
रावण को भौतिक बुद्धि स्वयं जल जाती थी
सीता की अन्तर दीप-शिखा को शोभा से
आत्मा की अम्बर-शक्ति देह के गिरि-बल से
कितनी ऊँची है, यह तो जान रहे थे तुम
सीता को साँसों से भी ज्योति निकलती थी
हे राम, इसे भी तो पहचान रहे थे तुम
नारी के जीवन को तुमने जलते देखा
पूछेगा तुमसे ही भविष्य-इतिहास स्वयं
तुम वाल्मीकि को नहीं कलंकित करना तब
हे राम, राम का सृष्टा ऊंचा है तुमसे इस धरती पर !

रो रहा जनक के सम्मुख वह साकेत-सूर्य
उसकी कठोरता पिघल रही है आंखों से
सरयू की लहरें लहरातीं दोनों तट पर
अनुभूति-तरणि खे रहे आदि कवि वाणी से

जिस पर विदेह की छाया वंशी बजा रही !
मिथिला के सिंहासन पर वल्कलधारी जनक सुशोभित हैं
अधखुली दृगी की सीपी से झरने वाले हैं दो मोती
उनकी सौम्या आकुल पत्नी देखती नयन को बार-बार
सोचती--"जनक की आँखों में भी है आँसू
आश्चर्य ! घोर आश्चर्य आज
इतने में मोती बिखर गये चुपके-चुपके
जैसे दो तारे टूट गये हों अम्बर से !"

रानी के विस्मय को सीता की मृत्यु मिली
वह तपस्विनी वनिता चिल्लाने लगी स्वयं--
"सीता का धरा-प्रवेश राम के ही सम्मुख ?
योवन की चढ़ती वेला में प्रेमास्त हाय !
नारी का आत्मानन्द नम्रता में विलीन ?
मिथिला की आलोकित प्रतिमा का पटाक्षेप ?
हे प्रिय विदेह, मैं माता हूँ निज सीता की
मेरे सुवक्ष के आँगन में वह सोई है
उर्मिला-सदृश ही पली प्राण-रस से मेरे
है जाग रहा मातृत्व नाथ,
मैं माँ हूँ कोई नहीं और
सीता मेरी खो गई हाय,
छुप गई प्राण की दिव्य ज्योति
मिथिला की शोभा की कलिका झर गई स्वयं
माता के रहते भी पुत्री चल बसी हाय,
हे ज्योति-जनक ! मैं भी मिट्टी में जाऊँगी
दो आज्ञा प्रिय, सीता मुझको है बुला रही !"

मानव-पति ने सुन ली पुकार
झंकार हुई मरणोत्सव की
हँस पड़े अचानक तब विदेह
सीरध्वज सहसा सिसक उठे
गंभीर हो गये जनक और
मनुष्यत्व अचानक फूट पड़ा
फिर तो विदेह हँस पड़े और
वनिता को उठा लिया कर में !

तूफान-भरे दो हाथों में मिल गई लाश की एक कली
जिस पर दो आँसू बरस गये फिर एक बार
जब चिता जल उठी महलों के ही आस-पास
औ' धरती जलने लगी लाल अंगारों से
सीता ने मिट्टी की माता से कहा जननि !
मेरी वह माता भी आ रही यहाँ रोती
जिसने मुझको बचपन में दूध पिलाया था
अपने आँचल की छाया में निज चुम्बन की
थपकी से मुझे सुलाया था
जिसने मेरे ही लिये रात में जाग-जाग
युग-युग तक कष्ट उठाया था
जाने दो माँ उन लपटों तक
जिस पर वह माता जलती है
आँखे विदेह की आज मोम-सी
रह-रह स्वयं पिघलती हैं

जल गई चिता

सन्ध्या की धूमिल छाया में
धीरे-धीरे सारे पञ्छी अपने खोतों में चले गये
औ' अन्धकार फैलने लगा चुपके-चुपके
पर एक विहग जो है विदेह
है खड़ा चिता की राखों पर
सोचता कहाँ जाऊँ अब मैं
मेरा तो नीड़ यहीं है
इतना क्या कम है !
उस आस-पास में कोई प्राणी नहीं और
है एक ताड़ का पेड़ खड़ा, जिसके ऊपर
उस नील गगन में एक ज्योति जलती देखो !

पञ्चदश सर्ग

भीषण महा समुद्र गरजता हिल्लोलित, कल्लोलित
सीमाहीन गगन का जीवन पुलकित चन्द्रालोकित
लोल लहर से खेल रही है ज्योत्स्ना की सुन्दरता
विचर रही कोमलता के सँग गर्जित भू-भीषणता !

छाई चारों ओर कुहा-सम वाष्पित प्रिय उजियाली
कहीं-कहीं टकरातीं मिल कर विकल घटाएँ काली
भीड़ लगी है द्राविड़ गण की दक्षिण-सागर-तट पर
मंत्र-सूत्र-संगीत गूंजते विविध राग मे सुन्दर

प्राकृत-रागोच्चारण से मुखरित हैं सभी दिशाएँ
नृत्य-विभोर तटी पर शोभित हैं सहस्र बालाएँ
क्यों ऐसा उल्लास आज दक्षिणी-तटी-आँगन में
क्यों इतनी संगीतमयी विह्वलता है जीवन में ?

इतने में जलयान रुका जयकार हुआ धरती पर
उतरा स्वयं हिमालय ज्योतिर्मय प्रभात-रवि-लेकर
जय विदेह, जय जनक-गूँजने लगा तुमुल कोलाहल
दर्शन की उत्सुकता के दृग से निकला करुणा जल

अभिनन्दन-अध्यक्ष बोलने लगे हार पहना के
दक्षिण की वंदना समर्पित कर फिर शीश झुका के—

हे महान राजर्षि, दार्शनिक,
योगिराज हे उज्ज्वल
अर्पित करते तुम्हें आज
नर्मदा तापती के जल

हे सीता के पिता !
हमारे पास मौन है भाषा
अर्पित करते तुम्हें करोड़ों
द्राविड़ की अभिलाषा--

एक सूत्र में बँधे प्राण-मन
एक धर्म के स्वर से
आर्यावर्त विशाल देश हो
नित सत-शिव-सुन्दर से

क्षमा करो हे महामनुज
जानकी - हरण-अपराध
दक्षिणात्य में भरो हृदय का
पावन प्रेम अगाध

रश्मि दान दो द्राविड़ उर में
दो दर्शन की आशा
हे योगी सम्राट ! हमें दो
ज्योतिमयी जिज्ञासा

बल दो निज दीपित आत्मा का
दृग मे गंगा जल दो

दो संयम की किरण
प्राण में ज्ञानोदय निर्मलदो!

हे दर्शन-गिरि-शृङ्ग ! सिन्धु का
नमस्कार लो राजन्
दक्षिण हुआ पवित्र
तुम्हारे चरणों से ज्योतिर्जन !

स्वागत, वन की हरियाली से
स्वागत, तरु-पल्लव से
स्वागत हे सम्राट भिखारी
प्राणों के कलरव से

स्वागत नदियों से, निर्भर से
स्वागत वन फूलों से
स्वागत हे मानव महान
खग, मृग, परिमल-धूलों से

स्वीकृत करो महर्षि
करोड़ों द्राविड़ का अभिनंदन
बार-बार करते प्राणों से
हम चरणों के •वंदन !

चाँदनी रात में जलते हैं दीपक सहस्र इस मिट्टी के
विस्तृत निकुंज के हरित मंच पर बैठे हैं विभ्राट जनक
सब देख रहे नयनों में श्रद्धा जल ले कर

गिरि-शिखर-श्रेणियाँ चारों ग्रोर विहँसती हैं
हरियाली के ग्रोसों पर किरणें चमक रहीं
जलते सहस्र जुगनू प्रदीप तरु-कुंजों में
ग्रज्ञान-ज्ञान के मिलन पर्व-से छिप जाते, फिर जल जाते।

ग्रभिनन्दन के उत्तर में कहा जनक ने——हे दक्षिणी बन्धु !
उत्तर की महिमा दक्षिण से, दक्षिण की महिमा उत्तर से
नगराज हिमालय करता गर्व उदधि पर ही
ग्रौ' उदधि हिमालय के गीतों को सुनता है
जान्हवी सिन्धु ग्रौ' ब्रह्मपुत्र का प्रेम कहाँ झरता जाकर ?
दक्षिण-समुद्र कैलाश-शिखर के पानी को पीता प्रतिपल
दक्षिणी मलय-संगीत हिमालय तक जाता
विन्ध्याचल की गिरि-रेखा से यह देश बना था छिन्न-भिन्न
वह बन्धन भी हो गया मुक्त उस एक राम की यात्रा से
थी ऋषि ग्रगस्त ग्रौ' परशुराम की दक्षिण-यात्रा योगपूर्ण।
मैं देख रहा हूँ हे द्राविड़ !
उत्तर दक्षिण में एक ज्योति ही जलती है
उत्तर दक्षिण का हृदय ग्रौर मस्तिष्क एक-सा प्रभापूर्ण
दोनों मानव हैं दिव्य सभ्यता के गृह के
दोनों की भाषा में संयम की शोभा है
दोनों के हैं संगीत, शास्त्र से ग्रनुशासित
मैं तो समुद्र की यात्रा करने ग्राया था
पर मेरी यात्रा पूर्ण हुई इस धरती पर
मानवता जहाँ विचरती है वन-फूलों में !
उत्तर ने पाया विष्णु-रूप, दक्षिण को शिव की शक्ति मिली
वह रावण ग्रति मानव कितना बलशाली था

पर हाय मनुज को अहंकार खा जाता है
हे द्राविड़गण !
मैं इतना ही कहता हूँ जन-मन-प्राणों से——
श्रद्धा-शोभित ही बुद्धि ज्ञान अपनाती है
समता की करुणा प्रेम बाँटती प्राणों का
मानवता का आधार प्रेम है हे द्राविड़ !
मैं योगी हूँ पर प्रेमयुक्त
हूँ एक दार्शनिक भी लेकिन प्रेमाश्रुपूर्ण
कहते हैं लोग विदेह मुझे
मैं देह लिये आया हूँ या कि विदेह लिये ?
वासनामुक्त मानव को ही कहते विदेह !
यदि यह सच है, तो हूँ विदेह, पर प्रेम योग-साधना लिये
उन्मुक्त मनुजता का पावन उद्देश्य लिये !
ईश्वर की छाया है समस्त संसार स्वयं
मानव इस जग का सब से ज्ञानी प्राणी है
मनुष्यत्व कहीं बन्धन में भी रह सकता है ?
मानवता का दूसरा नाम है मुक्त प्रेम
है ज्ञान प्रेम के लिये, मुक्ति के लिये नहीं केवल द्राविड़ ।
दक्षिण भी प्रेम पुजारी है, यह ज्ञात मुझे
दक्षिण के प्राणों में है उज्ज्वल सत्य छिपा
तब तो रावण के अहंकार को इसने त्याग दिया मन से
औ' साथ दिया प्रेमानुरक्त उस एक राम के जीवन का !
दक्षिण मानव का मन्दिर है
है शक्ति यहाँ की प्रेममयी
है विष्णु-स्नात शिव की शोभा संयमित भाव-साधना लिये ।

सुनकर विदेह की ये बातें, गूँजे जग-गण में महोच्चार
शंखध्वनि भी हो उठी ध्वनित
अभिनन्दन के पश्चात हुआ नाटकारम्भ--

वन-प्रांगण में निर्मित है रंगमंच सुन्दर
है काष्ठ-भवन नव कला-चित्र से अति शोभित
पार्वती तपस्या करती प्रथम यवनिका पर
सुविशाल हिमालय की सुन्दरता अति रंजित
दो साल और दो देवदारु भी दीख रहे
मृग-झुण्ड दूर वन-खण्डों मं भी हैं ओझल
गिरि-रजत शिखर से हिम गल-गल कर पिघल रहा !

शंखावलियों की ध्वनि गूँजी घण्टा के रव के संग-संग
औ' मुख्य यवनिका उठी, एक नट बोल उठा--
हो रहा नाट्य प्रारम्भ तुरत
'सीता वनवास'--चरित्र विमल

है जलप्रपात का एक दृश्य
वन-कुंजों में सीता पति के सँग बैठी है
अलकों में शोभित पुष्प-गुच्छ
काषाय वस्त्र से आवृत तन
दो पंछी उड़ कर वाम पार्श्व मे चले गये
दौड़ती हुई दो हिरणी भी छिप गईं तुरत
सीता सब को देखती रही उत्सुकता से
बजती है मधुर-मधुर वीणा
उठते हैं विविध वाद्य के स्वर धीरे-धीरे

ध्वनि हो जाती द्रुत मौन और फिर तनिक मुखर
सीता तोड़ती तीन कलियाँ अपने कर से
दे देती एक राम को भी
दो वेणी में खोंसती स्वयं
क्षण में गिर जाती एक
उसे भी उठा हाथ में रख लेती
सूँघती पुनः वह बार-बार !

सीता —
कहते थे सब मुझे—कोमले !
तुम वन में मत जाओ
केवल वहाँ कष्ट है, दुख है
स्वामी के सँग जाने के हित मत इतना अकुलाओ !
(अति प्रसन्न से बोल उठी फिर)

किसे कहूँ प्रिय, वन-सा सुन्दर महल नहीं होता है
जंगल के आँगन में जग की सर्वोत्तम है शोभा !
(कह कर इतना लगी निरखने राम-रूप को दृग से)

राम—
कहती तो हो सत्य स्वामिनी !
वन के एक-एक पल्लव से लिपटाये हैं जीवन
मुकुल, फूल, कलियों पर होते हैं भावों के गुँजन !

सीता—
तुम भी तो कहते थे स्वामी ! जंगल में मत जाओ
आज भला क्यों करते इसकी इतनी मधुर प्रशंसा ?
(रुक कर बोली व्यंग्यपूर्ण फिर !)

रोक रहे थे मुझे अवध में भय की परछाईं से
पूछ रही हूँ आज तुम्हीं से मैं कैसे रह पाती ?

राम--

क्या तुम कहीं नहीं रह सकती मेरे बिना अकेली ?
आज्ञा दे देते यदि राजन्--राम अकेले जाओ
तो तुम क्या करती कल्याणी ! बतलाओ यह मुझसे
तब तो रहना ही पड़ता एकाकी राज-भवन में !

सीता--

क्या कहते हो नाथ !
विमल कन्या हूँ मिथिलापुर की
पिता जनक ने दी है अनुभव की भी शिक्षा मुझको
ज्यों ही आज्ञा देते भूपति, मैं उनसे कहवाती--
नर-नारी का मंगल बन्धन पूर्ण प्रेम का जीवन
इसीलिये हे राजन्, मेरा जीवन है अधिकारी
सीता के पति वन जाते हैं, तो सीता जायेगी !
औ', नरेश मुझसे कह देते--देवि ! हर्ष से जाओ

(यह सुन कर हँस पड़े राम)

राम--

बहुत चतुर हो प्राण वल्लभे ! कर्म-कुशल हो वनिते !
महा जनक से तुम्हें मिली है वेद-शास्त्र की शिक्षा
ऋषि, मुनियों ने दी है आकर तुम्हें धर्म की दीक्षा
मुझसे बढ़कर रहती हो तुम ज्ञान हृदय के घर में
मैं तो केवल युद्ध-ज्ञान से थोड़ा-सा परिचित हूँ
रक्षा कर लेता हूँ वन में सदा तुम्हारे तन की ।

सीता--

नाथ ! न लज्जित करो मुझे तुम अति विनम्रता-स्वर से
तुम तो जो हो, सच कहती हूँ, इसे जानती मैं ही
तुम स्वदेश को उन्नत करने वाले हो अति मानव
तुम्हें देख कर डर जाते हैं वन के सारे दानव
धनुष-बाण में बोल रही है धर्म-सत्य की आभा
साक्षी है सत्याग्नि तुहारे कर्मों का जीवन में

राम--

बहुत हो गई प्रिये, बड़ाई
देखो सन्ध्या शोभा
धीरे-धीरे रवि ढलता है, पंछी निज गृह जाते
मन को मोह रहा है वन को धुँधली सी हरियाली

(इंगित कर नैपथ्य-दिशाको)

सानु-कुँज से देखो हिरणी जाती उधर उछलती
चली जा रही गगन-मार्ग से उड़ती शुभ्र वलाका
वह देखो उत्तराकाश से उमड़ रहे हैं बादल
हवा ढो रही निज पंखों पर श्यामल घोर घटाएँ !

सीता--

(विस्मय से बोली रुक-रुक कर)

एक बात बतलाओ स्वामी,
इसे आज कहती हूँ (उत्सुक राम देखते मुख को)
मैं बादल को देख-देख क्यों सिहर-सिहर जाती हूँ
उसे देख कर मन में उठती एक पीर-सी केवल
चंचलता उठती है क्यों संयम से पूर्ण हृदय में ?

राम—

जीवन की सुधि आती मन में देख-देख कर बादल
(रख कर एक हाथ कन्धे पर)
बादल के आँगन से बचपन अक्सर झाँका करता

सीता—

(अति प्रसन्न मुद्रा में कहती)
सच कहते हो नाथ ! मेघ में मैं खेला करती थी
लग जाती थी भीड़ सखी की मेरी अमराई में
डबरों-गड्ढों की आड़ी पर हम करती थीं क्रीड़ा
हमें नाचते देख नृत्य करती थी मोर-प्रिया भी
कभी-कभी तो स्वयं पिता भी आकर कह जाते थे—
बन्द करो सीते ! वर्षा में अधिक खेल मत खेलो !
(रुक कर फिर बोली सहसा वह)

एक बार इतना ज्वर-ताप चढ़ा कि हुई सुधि हीना
कितनी सेवा की थी माँ ने यह कैसे बतलाऊँ ?
सचमुच माँ का ऋण कोई भी चुका नहीं सकता है
स्वर्गामृत से अधिक श्रेष्ठ है माता का पय निर्मल !
(पट परिवर्तन)

द्वितीय दृश्य

घनघोर विपिन
सुनसान पंथ
झंझा-झोंके
हैं विकल राम, पागल-समान है खुली जटा
क्रोधाकुल व्याकुल मुखमण्डल

करुणा-दृग में आँसू-कण भी
जानकी-हरण उपरान्त विरह की अग्निज्वाल
विरही का चंचल चित्र राम के जीवन पर
पीछे दाहिने पार्श्व में लक्ष्मण रोषपूर्ण, क्रोधावतार का रूप लिये
एकाकी केवल राम दर्शकों के सम्मुख
दुःखान्त स्वतः संवाद पूर्ण
वीणा का केवल एक तार बज रहा मन्द

राम—

तुम जब से हो गई दूर
मैं भूल गया सुधि तन की
भूल गया सुधि हे कल्याणी
हरे-भरे जीवन की !

अब अरण्य कितना सूना है
छाई है अँधियाली
कहाँ छिप गई हाय तिमिर में
रवि की मोहक लाली

बीते बारह वर्ष विहँसते
घोर-घोर जंगल में
तनिक कष्ट भी हुआ नहीं
आशा के स्वप्न बिमल में

छाई आज राम के उर में

केवल एक उदासी
हाय लग रहा आज मुझे
मैं दुख-अरण्य का वासी

कहाँ गई, तुम कहाँ गई
ओ पर्ण-कुटी की रानी
कौन ले गया तुम्हें चुराकर
वह कितना अभिमानी

मृग की अभिलाषा में किसकी
भरी हुई थी माया
किस पापी की, व्यग्र प्राण पर
पड़ती कलुषित छाया

ओ जघण्य निर्दयी ! रखोगे
कहाँ चुरा कर तन को
तन तो हर ले चले अरे
हर लोगे कैसे मन को ?

छूकर ही जल जाओगे तुम
अग्नि-पुंज है सीता
नहीं जानते तुम अज्ञानी
सीता परम पुनीता

भर दी किस निष्ठुर ने मुझमें
आज क्रोध की ज्वाला
किसने स्वयं पहन ली मद मे
ध्वंस पुरुष की माला

पापी तुम्हें नष्ट कर देगी
सीता की चिनगारी !
इस धरती पर तुम न रहोगे
अब ओ अत्याचारी !

उड़ा दिये तुमने अनन्त में
आज कपट के वाण !
सच कहता हूँ अधम ! तुम्हारा
आया है अवसान !

लेकर जाऊँगा सीता को
वापस अपने साथ
जा न सकूँगा राजभवन में
मैं अब खाली हाथ

हाय आज जीवन है कितना
द्रवित और सुनसान !
इस करुणा से मुझे बचाओ
हे अनन्त भगवान !

मुझे शक्ति दो दुख सहने की
दो मुझको नव ज्ञान
इस जीवन में भरो, भरो हे
शत आँधी-तूफान !

मैं न रुकूँगा पर्ण कुटी में
जाऊँगा उस ओर

जहाँ जानकी के प्राणों में
विप्लव करता शोर

लिपटी है मेरे जीवन से
सीता की परछाईं
मेरे अन्तर में उसकी ही
आत्मा की अरुणाई

कहाँ गई इस नन्दन वन की
ओ वसन्त-हरियाली !
आज विरह से काँप रही है
मन की डाली-डाली !

कौन करेगी नित प्रभात
फूलों से अब शृङ्गार !
कौन पिन्हायेगी मुझको
खिलते फूलों का हार !

कहाँ सुनूँगा-कहाँ सुनूँगा
अब मोहक झंकार !
कौन दिखायेगी रह-रह कर
निर्झरिणी की धार !

हिरणी को गोदी में लेकर
कौन करेगी खेल !
कौन करायेगी आपस में
मृग-शावक का मेल !

अर्ध रात का चाँद
दिखाने वाली हे कल्याणी !
कहाँ सुनूँगा इस जंगल में
अब मैं शीतल वाणी !

राज महल को छोड़ हाय
आई थी तुम इस वन में
कलरव करती थी प्रतिपल तुम
मेरे नीरस मन में

सफला नारी की परिभाषा
दी तुमने इस जग में
चली राम के संग वनों में--
वन के कंटक मग में

ओ विदेह की ज्योति ! अरी
मिथिला की ज्योतित सुषमा !
कैसे दूँ मैं तुम्हें शरद-शशि
आभा से भी उपमा !

ओ देवी प्राणों के गृह की
ओ, कल्पना-कुमारी !
तुमने कर दी दीपित
मेरे पथ की जंगल-झाड़ी !

किसी शत्रु के कपट-जाल से
बिछुड़ गई तुम वन में

मेरे रहते कष्ट हो गया
तुम्हें हाय जीवन में

चैन नहीं मुझको जीवन में
जब तक तुम्हें न पाऊँ
शान्ति कहाँ ? जब तक उस अरि को
यहाँ न मार गिराऊँ !......

इतने में आँधी उठी एक वर्षा लेकर
भीषणता वन में फैल गई हो गया बन्द अभिनय सहसा
हो गये मनुज सब छिन्न-भिन्न
दर्शक के लिये भवन था कोई बना नहीं
सब भींग गये मेघों के झरते फूलों से
राजर्षि जनक भींगते रहे सबके समान
वे रंगमंच पर जा न सके निर्देशक के भी कहने पर
बोले—मेरा तन भी भींगा औ' भींग गया मेरा मन भी
आर्यों से द्राविड़ नाट्य-कला में उन्नत हैं
मैं तो अवाक रह गया राम के अभिनय से
सीता स्वरूप से भी कुछ मिलती-जुलती थी।

उस दाक्षिणात्य में कर श्रद्धा का शिला-न्यास
सिंचित कर प्रेम-विशाल वृक्ष
शोभित कर मानव-विश्व-ज्योति
लौटे विदेह मिथिला में शत जन गण-समेत
तब वृद्ध पुजारी ने पूछा—दक्षिण में क्या-क्या मिला नृपति ?
बोले विदेह मानव के दर्शन हुये वहाँ

सभ्यता मिली, साहित्य मिला औ मिली कला की वाणी भी
देखा द्राविड़ का रंग-मंच, देखी द्राविड़ की भाषा भी
अभिव्यक्ति, नाट्य-भंगिमा, गीत-संगीत सभी कुछ सुन्दर है
भारती बीन पर वहाँ नारियाँ गाती हैं
कोमल-कंठों के उर्मिल स्वर साधनापूर्ण संयमित वहाँ
व्यवहार-कुशल मृदुभाषी जन, निर्मल पवित्र पुलकित नारी।
नारियाँ नहीं उन्नत होंगी तो मानवता मिट जायेगी
नारी-चरित्र से राष्ट्रोत्थान विजय पाता
नारी मानवता की धरती की पुष्प-ज्योति
है शक्ति-स्नात दक्षिण-दर्शन
द्राविड़ तो उन्नत मानव हैं !

वह वृद्ध हुआ सुनकर प्रसन्न
सोचने लगा-कितना विशाल सम्पूर्ण देश
ऊपर नगपति, नीचे समुद्र
कितना विस्तृत, कितना महान !

* * *

युग-युग के बाद पुकार उठ अन्तरतर की वेदना भरी
सम्पूर्ण देश में महाशोक छा गया हाय
मिट्टी का युग-आलोक छिप गया मिट्टी में
दिन में सूरज काँपने लगा, निशि में शशि रोने लगा स्वयं
मारुत, सरिता, निर्झर ने बहना छोड़ दिया
काँपने लगे पर्वत-पहाड़ के सभी शिखर
तरु-लता-बल्लरी सिहर गई, रो पड़े फूल भी विवश हाय
कलियाँ भी खिल न सकी वन में

उत्तर, दक्षिण, पूरब,पच्छिम, सब ओर छा गया सन्नाटा
सम्पूर्ण प्रकृति आकुल-व्याकुल
हो गया स्तब्ध सागर अनन्त
आकाश रो उठा एक बार
घिर गई घटाएँ असमय में
देखा निसर्ग ने स्वयं मृत्यु की आँखों में करुणाश्रु-विन्दु
विहगी ने उड़ना छोड़ दिया
हो गये मौन, कलरव-विहीन
योगी, महर्षि, ऋषि सब रोये
संन्यासी ने भी नयनों को धो लिया हाय
मानव तो रोता रहा गगन के सावन-सा
रोये समस्त द्राविड़, समस्त प्रिय भक्त आर्य
रोये होंगे देवता स्वर्ग के भी चुप-चुप
रोया होगा मानवता का भी घोर शत्रु
दानव भी रोया होगा निश्चय ही मन से
उस एक राम के लिये हाय मरणोपरान्त/
जब प्राणों का पंछी उड़ कर छुप गया स्वयं
जब मिट्टी का आलोक ढल गया दिनमणि-सा !

/मिथिला में भी आँसू की घटा उमड़ आई
कोलाहल एक हुआ प्राणों के क्रन्दन का
नयनों की नदियाँ सूख गईं रोते-रोते
पर हाय, जनक के जीवन में क्यों निष्ठुरता
आँखों में आँसू नहीं, प्राण में कुछ भी कम्पन नहीं हाय,
हल्की-सी एक उदासी भी दीखती नहीं/

पूछा अमात्य ने श्रद्धा से—"हे योगिराज !
पुरुषोत्तम राम विलीन हुये…।"
हँस पड़े विदेह इसे सुनकर
बोले—वे स्वयं सिधार गये तो रोना क्या ?
आँसू अकाल की वेला में रखते महत्व
मानव की सफल मृत्यु पर भी रोये मानव ?

उस महाकाल को भी तो कुछ समझाने दो
जिस दिन मानव हर्षित होगा पाकर सुमृत्यु
उस दिन से धरती का गौरव बढ़ जायेगा
देखो सूरज ढल रहा उधर धीरे-धीरे
चाँदनी तुरत फूटेगी मृदु मुस्कान लिये
घर-घर में दीपक जल जायेंगे एक बार
रोना तो उसके लिये जो कि असहाय स्वयं
रोगी बन कर मर जाता है।
धरती कहती है सब मनुष्य हों राम-सदृश
आदमी चाहता बने दास
दासता पतन है, महा पतन मानवता का
जिसको जितनी जिज्ञासा है वह उतनी दूर पहुँचता है
प्रेरणा नहीं जिस मानव में वह लक्ष कहाँ तक पायेगा ?
मानवता कहती है मानव को चलो साथ
हे कोटि-कोटि जन-गण जीवन को दीप्त करो !
पर मानव रह जाता पथ में दुर्बलता की तम-छाया में
तो दीप्त मनुष्य बनें कैसे ?
उड़ गया राम का प्राण-विहग तो उड़ने दो
धरती को दो दूसरा राम, तीसरा राम

धरती तो मां है स्नेहमयी
चाहिये इसे शत ज्योति-पुत्र
शत ही क्यों सारे पुत्र ज्योति से पूर्ण बने
जिस दिन ऐसा होगा उस दिन
वह निराकार साकार बनेगा धरती पर
मानव उसके सँग दूर-दूर तक जायेगा !

हे प्रिय अमात्य,
कहते हो तुम रोने को तो मैं रोता हूँ
मैं मानव हूँ मानव के सँग तो रोऊँगा
देखो ये अश्रु निकल आये !

देखा उसने सचमुच आँखें हैं पिघल रहीं
सन्तोष हुआ मन-प्राणों को
रोये विदेह, पर वह अमात्य हँस रहा स्वयं
औ' योगिराज ने उसे व्यंग्य से देख लिया
उसने भी लज्जा से मस्तक को झुका लिया धीरे-धीरे !

षोडश सर्ग

जलदान्धकार पर रात्रि-तिमिर करता ताण्डव
भीषण रव-घोषित दिग्दिगन्त आकाश, अवनि
औ' कभी-कभी विद्युत-चंचल विस्फोट, कड़क, गर्जन, तर्जन
शत नहीं, सहस्रों व्याघ्रों के हुँकारों से भी
अधिक-अधिक है महोच्चार ।
वर्षा की भीषणता भूतल पर बरस रही
वातास, प्रभंजन, मारुत भू के विटप-गर्व को हिला रहे––
झकझोर रहे, हैं तोड़ रहे तरु-डालो को
तूफान, बवंडर आँधी तीनों एक साथ तम में विचरित
घन-खण्ड व्योम में युद्धाकुल दिक्काल-शक्ति की छाया में
हर-हर घर-घर जयघोष लिये संहार- सृजन दोनों दृग में
प्रलयंकर के उस महानेत्र में लीन प्रतिध्वनि की
सीमा में हो विलीन
निस्सीम सृष्टि-साम्राज्य कल्पनातीत अलक्षित लक्ष्य-व्याप्त
––देखते विदेह प्रशान्त घोर तन्मयता की चिर निद्रा में
जिसमें अनन्त जागरण कर रहा रश्मिदान
आह्वान आ रहे मन्द-मन्द मन-प्राणों से आत्मा लेकर
चेतना-ज्योति का कमल खिल रहा रक्त वर्ण
इस समय एक विश्वास सत्य को लिये दूर उड़ता जाता
जो काल-व्याल से लिपट खेलता चिन्तन में

उस पार

या कि इस पार
अथवा दोनों के मध्य जहाँ है वर्तमान दोनों तट प्रतिपलछूता-सा
या यहाँ-वहाँ सर्वत्र
विभा-बाँसुरी बजाता मन्द-मन्द प्रति क्षण से भी द्रुत गति से नित
वह महाकाल विभ्राट सत्य का सूक्ष्म-रूप
जो तिमिर-ज्वाल-रथ पर अनन्त में करता अविरल भ्रमण स्वयं
चरणों के नीचे नाच रहा सम्पूर्ण विश्व
मस्तक पर जिसके पराशक्ति का मुकुट
सुचित्रित जिसमें ब्रह्म-महेश-विष्णु
जिनकी आत्मा से ध्वनित एक आलोक प्रखरतम ज्योति लिये
जो अलख, अगोचर अति से भी अति सूक्ष्म, सत्य
जो सब कुछ, कुछ भी नहीं, विवेचन में विलीन
इतना अथाह, इतिहीन, असीमित वह विराट !
विज्ञान, ज्ञान, बल-बुद्धि नहीं छू सकी जिसे
विश्वास एक छूता जिसको शुद्धात्मशक्ति-साधना लिये
चेष्टा की नौका चली आ रही युग-युग से
भाषा में बँधता नहीं कभी वह परा सत्य
परिभाषा बनती और बिगड़ती रहती है
आत्मा का अन्वेषण न कर्म में उतर रहा !
श्रद्धा से अनुभव होता है सम्पूर्ण शक्ति
रे, बुद्धि नयन के पार नहीं जा सकती है
इसलिये भक्ति-अनुरक्ति
विरक्ति धरा से करते हैं योगी
पर धरा सृजन के जीवन का कर्मोन्मुखी क्रीड़ास्थल है।
यह ज्ञान और अनुभव की मिट्टी जीवन-ज्योति उगलती है।

दिक्काल-काल की छाया में
प्रति साँस मनुज की किरणमयी हो सकती है !

वह एक इंगित था तुम्हारे स्वप्न का
तारे उगे हे काल ! शून्याकाश में
तुमको पता निर्माण क्या कैसे हुआ
पहले-पहल उस आदि सृजनोच्छ्वास में

की देखने की कल्पना तुमने प्रथम
अनगिनत ज्योतित नेत्र ग्रह लक्षित हुये !
की देखने की कामना तुमने प्रथम
सब ओर तम के गृह तुरत दीपित हुये !

स्यात यह मार्त्तण्ड नभ के हास की
रश्मि से परिपूर्ण गति की कल्पना !
स्यात निर्मल स्निग्ध शीतल चन्द्रमा
मुस्कुराहट की विमल मृदु भावना !

हे अनन्त, विराट, आदिम देवता
इस निखिल ब्रह्माण्ड के तुम गान हो !
अग्नि, क्षिति, जल, पवन औ' आकाश के
शून्यमय गुंजित प्रथम आह्वान हो !

वायु निकली है तुम्हारी साँस से
और स्वर से भैरवी-सी रागिनी
चक्षु में छाई प्रथम काली घटा
जो बनी सागर-लहर उन्मादिनी !

गति तुम्हारी आदि और अनन्त है
गति तुम्हारी शिशिर और वसन्त है
पूर्ण माया में तुम्हारी सृष्टि का
जन्म-प्रतिमा-संग स्वप्निल अन्त है !

कर तुम्हारे सृष्टि से भी हैं बड़े
एक मुट्ठी में निखिल संसार है
ये दिशायें, लपलपाता सर्प-सा,
उँगलियों का ज्योतिमय विस्तार है !

सप्त रंगों से विनिर्मित किरणमय
भाल पर शोभित प्रदीप्त किरीटिनी
हँस रही निस्सीम उर की गोद से
चिर सुहासिनि मधुर माया मोहिनी !

प्राण-प्राणी-कल्पना की सर्जना
प्रभु, तुम्हारे ब्रह्म-आदिम ज्ञान में
हँस पड़ी करुणा विहँसती अश्रु ले
उसी प्रातः स्वप्न की मुस्कान में !

काल ! तुम हो सृष्टि के माता पिता
सत्य-शिव-सुन्दर परा के रूप हैं
है तुम्हारी प्रेरणा से चाँदनी
औ' तुम्हारी प्रेरणा से धूप है !

प्रात औ' दिन, है पुरुषमय कल्पना
साँझ औ' निशि-नम्र नारी-भावना

प्रथम ज्वलिताङ्गार फिर शृंगार की
नित्य नूतन वन्दना, आराधना !

हे ! तुम्हारे प्रगति-रथ के चक्र में
नाचते नक्षत्र और खगोल हैं
रोम-कम्पन ही प्रबल तूफान हैं
चरण-कम्पन ही चपल भूडोल है !

काल ! तुमने की कृपा तो मिल गया
जन्म, जीवन, ज्वलित यौवन, जागरण
किन्तु जिस दिन कोप से तुम कँप उठे
मिल गया तन को मरण का आवरण

जन्म-वेला तुम सुखद वरदान हो
आयु के सम्मुख नियति-भगवान हो
मरण-वेला दैत्य, दानव, व्याघ्र ही
आह ! तुम कितने भयंकर प्राण हो !

कल्प-युग नववर्ष-ऋतु-दिन-मास ये
पृष्ठ हैं निस्सीम के इतिहास के
गूँजते संगीत प्रति क्षण व्योम में
एक साथ विकास और विनाश के !

प्राण-जीवन-फूल के नव हार से
नित्य करते तुम सजल शृंगार हो
कौन जाने कब पिया करते अमृत
किस समय खाते ज्वलित अंगार हो !

चिर पिपासित, क्षुधित, तृषित विराट हे
सृष्टि का कण-कण तुम्हारा खाद्य है
बस महा निर्वाण ही तो विश्व का
लक्ष्य है, कल्याण है, आराध्य है !

मिट नहीं सकती तुम्हारी भूख प्रभु !
सृष्टि-भक्षण ही रहस्य-अगीत है
व्यंग है निर्माण केवल प्रिय तुम्हारा
स्वप्न का अवसान ही तो प्रीत है !

एक कर में है अमृत का पात्र, पर
एक कर से बाँटते विष ही यहाँ
है अमृत यों ही दिखाने के लिये
छोड़ तुमको कौन चिर जीवित कहाँ ?

आज है यह चन्द्रमा, फिर कल नहीं
क्या पता है सूर्य ही छिप जाय फिर
लुप्त हो जाय उदधि की कल्पना
क्या पता यह धरा ही हो जाय स्थिर

सत्य हो तुम कटु, कठोर, विहासमय
तुम बने हो मरण-पीड़ा के लिये
काल ! तुम सुन्दर-असुन्दर स्वप्नमय
जीर्ण शीर्ण विनष्ट क्रीड़ा के लिये !

है तुम्हारी इन्द्रधनुषी कल्पना
हे स्वयंभू महाकवि, वय-पालशाल हे

हे महा संगीत इति के आदि के
ब्रह्ममय हे व्याल-वाहन काल हे !

शंख-ध्वनि औ' चक्र का स्वर ही नहीं
गदा-गर्जन भी तुम्हारे साथ है
नाग की फुफकार प्राणों के निकट
भाग्य-लक्ष्मी भी तुम्हारे हाथ है ?

व्यंग्य से परिपूर्ण ही तो विश्व यह
प्रभु, तुम्हारे रूप का परमाणु है
एक उँगली पर निरंतर नाचता
अग्निमय आकुल अकेला भानु है !

बह रही प्रतिपल तुम्हारे स्रोत में
मरण से शोभित जगत की कल्पना
कामना के व्योम से नित उठ रही
मृत्यु-वीणा की प्रकम्पित गर्जना !

रक्त से रंजित सहस्रों हस्त से
प्राणियों की मर्म-रेखा रँग रहे
बन गये जो, मिट गये जो, टिक गये
कौन ऐसे स्वप्न की गणना करे ?

देवता, दानव, मनुज इस सृष्टि के
काल ! चरणों के तुम्हारे पास हैं
तुम मिलोगे एक दिन सबको निठुर
सत्य है, सबको अटल विश्वास है !

काल ! तुम संगीत हो साहित्य हो
काल ! तुम झंकार हो झंकार हो
साथ ही तुम प्रलय हो तूफान हो
काल ! तुम हुंकार ही हुंकार हो

कर रहे शृङ्गार की भी कल्पना
कर रहे संहार की भी कल्पना
कर रहे तुम एक सँग ही सृष्टि में
प्यार औ' हुंकार की भी कल्पना !

एक क्षण मे नव रसों के गीत की
ध्वनित शय्या पर विहँसती कामना
एक ही स्वर में जनम औ' मृत्यु की
कर रहे हे काल प्रति क्षण गर्जना !

तिमिर-माया के महा विस्तार में
हास-रोदन के दिवस हैं रात हैं
विकल छाया के गगन-विस्तार में
अश्रु औ' मुस्कान संध्या-प्रात हैं !

खगी-इच्छा के सहस्रों पंख हैं
पंख में अति शक्ति है, तूफान है
एक भी कण है नहीं इस विश्व में
जो तुम्हारे नेत्र से अनजान है !

दूरदर्शी हे ! तुम्हें जय-विजय-क्षय
एक पल से पूर्व ही तो ज्ञात है

सृष्टि का कण-कण तुम्हारे सामने
प्रश्न के सम्मुख मरण की बात है !

विश्व के सम्राट, हे विभ्राट, तुम
मृत्यु के संगीत में ही लीन हो
आदि, अन्त, असीम, सीमा-स्वप्न के
स्वयं अपने आप में स्वाधीन हो !

हृदय में है ध्यानमग्ना-शारदा
ब्रह्म है मस्तिष्क के उदगार में
पूजती है चरण को सम्पत्ति-श्री
व्याप्त है शिव स्वप्न-सृजनागार में !

काल ! तुम निस्सीम चिर-साहित्य हो
प्रभु, तुम्हारे शब्द मे भी रूप है
रूप ही क्यों ? रंग-रंजित गान हैं
छन्द में स्वच्छन्द स्वप्न-स्वरूप है !

रूप-माया-सिन्धु अगम अथाह है
लहर-दर्शन ही नयन की तृप्ति है
ज्ञान-शशि जब झाँकता आकाश से
ज्वार भाटा में हृदय-अनुरक्ति है !

तुम सभी विध्वंस के आह्वान हो
तुम सभी निर्माण के वरदान हो
तुम जगत के जन्म के भी गान हो
तुम महाप्रस्थान के उपमान हो !

यह काल-चिन्तना-बीन सो गई मन्द-मन्द
वर्षा भी हुई समाप्त स्वयं धीरे-धीरे
धो दिया चाँदनी ने नभ को
निज सुन्दरता के पानी से
निर्मलता का संगीत गगन में गूँज उठा
तब एक पुकार उठी मन में—

कलाकार ! तुमने मनुष्य को
दी केवल जिज्ञासा
पर मानव ने स्वयं बना ली
मानव की परिभाषा !

मानवता है वही, प्रकृति का
मनन करे जो मन में
ढूँढे अन्तिम सत्य न्याय से
मानव के जीवन में

जीवन वह जो स्वयं मरण को
हँस कर ही अपना ले
मिट्टी पर रह कर अनन्त की
ज्योति एक भी पाले !

ज्ञान आत्म-सन्धान मनुज का
बुद्धि तर्क की ज्वाला
प्रेम हृदय की शीतलता है
सत्य स्वयं उजियाला !

संघर्ष यही जीवन का
यही प्रबल साधना सुविकसित
धरती के आँगन का

कर्म नहीं जिसके जीवन में
वह न सत्य का ज्ञानी
बुद्धिमान वह मनुज, कर्म का
जो न्यायी अभिमानी

खिलता जब कर्त्तव्य-कमल
रश्मियाँ ज्योति की आतीं
उगता है जब चाँद गगन में
तभी चाँदनी गाती !

बुद्धि-गान इसलिये कि ये
सत्कर्म-प्रेरणा जग में
जो विवेक से हीन वही
रुकता जीवन के मग में !

तिमिर विश्व का प्रश्न
ज्योति है केवल जिसका उत्तर
वही मनुष्य महान कि जिसका
अन्तर तर है सुन्दर !

तिमिर-गरल जो पी न सका
वह रश्मि-सुधा न पियेगा

डरता है जो महामृत्यु से
वह क्या यहाँ जियेगा ?

ज्ञात नहीं जिसको अशान्ति
वह शान्ति कहाँ से पाये
सत्य नहीं जिसको प्रिय, कैसे
वह संघर्ष मचाये !

मानव के प्रश्नों के उत्तर
मानव के ही मन में
है मनुष्य का सत्य छिपा
मानव के ही जीवन में

जीवन-दर्शन यही कि मानव
रहे सत्य के घर में
सुन्दरता है वही विमल
जो रहे स्वयं सुन्दर में

वह भी क्या है स्वर्ग
जहाँ पड़ती न सत्य की छाया
सत्य ढूँढ़ने के हित ही तो
बनी विश्व में माया !

मानव नहीं जो कि वैभव की
शय्या पर नित सोये
मिथ्या है वह बल जो केवल
भार तिमिर का ढोये

अन्यायी वह राज्य जहाँ
सुख की न चाँदनी छाई
फैली नहीं बुद्धि की किरणें
लिये प्रेम-परछाईं

विद्याहीन मनुष्य हाय
मानवता का रोगी है
योगी वही जगत में जो
निर्मलता का भोगी है !

वही मित्र जो मनन करे
जीवन की सच्चाई का
तम को दूर करे ले दीपक
आशा-अरुणाई का

जले निराशा के मस्तक पर
वही मनुज की आशा
ले जाये जो दूर लक्ष्य तक
वही प्राण-अभिलाषा !

रहता है जो सदा भाग्य पर
वह नर एक अधूरा
वह न करेगा कभी काम को
इस धरती पर पूरा

गढ़ती है दीनता भाग्य से
भरी हुई जिज्ञासा

भाग्यवान तो वही, भाग्य की,
जो न समझता भाषा !

कहने से पहले जो करता कर्म
कठिन जीवन में
संयमशील महा साधक है
वह संघर्ष-भवन में

किन्तु बिना समझे ही जो
करता है कर्म जगत में
हो जाता है पतन उसी का
अहंकार के पथ में !

जीवन पर क्या गर्व ? मनुज को
यश मिलता कर्मों पर
बल वैभव का यशी
दौड़ता केवल क्षणिक लहर पर

मानव का अभिमान स्वयं
मानव को खा जाता है
करता है जो क्रोध, कभी भी
शान्ति नहीं पाता है

सेवा एक तपस्या, है
दासता एक दुर्बलता
त्याग महा आदर्श एक
है प्रेम प्राण-निर्मलता !

प्रभुता तो अन्याय स्वयं
है शक्ति न्याय का स्रष्टा
ढोता है जो सत्य प्राण पर
वही मनुज का द्रष्टा !

बलिदानी तो वही, सत्य पर
जो है शीश चढ़ाता
रक्त-स्नान करता जीवन में
आँसू नहीं बहाता !

बन्धु वही जो प्रेम, त्याग से
करे पवित्र हृदय को
भ्राता की ही विजय-हेतु
वह रोके अपनी जय को !

भाई वह जो अनुज प्रेम को
श्रद्धा से अपनाये
करुणा, स्नेह और ममता से
प्रतिपल गले लगाये

मां की परिभाषा, मनुष्यता
की सच्ची परिभाषा
जितनी निर्मल माता जग में
उतनी निर्मल भाषा !

भाई प्रेम, बहन करुणा है
सरिता के दो तीरें

या श्रद्धा के मन-प्राणों के
दो आँसू के हीरें

यह सारा संसार एक
परिवार समान सुशोभित
मानवता की एक बीन के
सभी तार हैं झंकृत

दानव को मानव बनने का
दें हम सदा निमंत्रण
ज्ञान, कर्म, आशा लेकर हम
मुक्त करें यह वह बन्धन

युद्ध न बन्धन तोड़ सकेगा
कभी विकल धरती का
भले उड़ा ले क्षणिक काल तक
जग में कीर्ति-पताका !

शान्ति सत्य से और प्रेम से
ही मिलती जीवन में
यह संघर्ष जगाना होगा
पहले मानव मन में

मन में यदि है जलन
कर्म से शान्ति नही आ सकती
बिना प्रेम से अन्तर की
ईर्ष्या न कभी जा सकती

मानव यदि मानव हो जाये
युद्ध न यहाँ उठेगा
मानव जब तक उग्र-दनुज है
युद्ध न कभी रुकेगा !

जीवन में आते प्रात, और संध्या लेकर होते विलीन
जीवन में आते दिवस; रात के संग लुप्त हो जाते फिर
पर नित नूतन बातें उठती रहती मन में
अनुभूति, ज्ञान के दीपक प्रति दिन जलते हैं !
उगते तारे भी कहते हैं जग की बातें
रवि-शशि भी बिखराते विचार
चाँदनी. किरण औ' हवा सभी कुछ कहती हैं
पर सबसे अधिक कहा करते केवल मानव
स्वर, शब्द, गीत, भाषा की तरल तरंगों पर
कल्पना, भावना, तर्क, सभी कुछ गाते हैं
मिट्टी की मूर्ति बनाते हैं रँग देते हैं
वीणा के सातों तार बजाते उँगली से
सोचते सभी कुछ अपने-अपने हो ढँग से
पर सत्य एक है महाज्वलित
——कहते विदेह उस ऋषि से जो हैं अतिथि आज
उस पर्णकुटी में जहाँ चिन्तना होती है
कुछ लोग गाँव के भी बैठे हैं इधर-उधर
सुनते विदेह की मृदु वाणी——
है ग्राम तपोवन की शोभा
सादगी यहाँ की सुन्दरता

निर्मलता यहाँ विचरती है
सोतो पवित्रता मिट्टी पर
जब से हैं नगर बनें भूपर तब से होते हैं युद्ध यहाँ
सभ्यता नगर में बन जाती कृत्रिम केवल
मानव तो प्रकृति-पुजारी है
तरु-लता-छाँह में जो जीवन पलता प्रतिपल
वह ही तो है सचमुच पवित्र
इसलिये सभी आचार्य गाँव में ही रहते
करते हैं विद्या-दान आम्र की छाया में
मैं एक बार था गया हिमालय पर्वत पर
हिम गल-गल कर था पिघल रहा
वन-वल्लरियों के पास काष्ठ के नव गृह थे
लम्बे लम्बे द्रुमदल की छाया के नीचे
परिवार एक था बसा हुआ फूलों से घिरा हुआ वन में
था एक व्याघ्र-शिशु भी बैठा
हिरणी भी आकर चरती थीं
बैठे थे भूरे श्वान तीन
उस मानसरोवर के तट पर भेड़ें भी चरती थीं शत-शत
काले-काले शिशु कोमलता के बादल थे
दो-तीन लड़कियाँ चरा रही थीं छड़ी लिये
मेरे सम्मुख तो केवल दो ही आई थीं
इतनी सुन्दर, मोहक जितना खरगोश स्वयं
मैंने पूछा—कुछ पढ़ती हो ?
हाँ पढ़ती हूँ ऋषि याज्ञवल्क्य के शुचि विचार
औ' प्रमुख ऋचाएँ वेदों की !

मैं तो अवाक रह गया स्वयं
सोचा कि शान्ति की कन्या सब कुछ पढ़ सकती !
सन्ध्या की स्वर्णिम वेला थी
नीले जल पर भी एक अरुणिमा छाई थी
सब ओर फूल-फल थे शोभित
तोते-मैंने थे फुदक रहे
गृह के समीप थे रखे धान के बोझे भी
जिन पर भी किरणें पड़ती थीं
नीले सरोज की पंखड़ियाँ थी सिकुड़ रहीं
पूछा लड़की से—नाम तुम्हारा हे मृदुले ?
सीता ! सुषमा !......ये शब्द निकल आये मुख से
मैंने तब उन्हें उठा कर से ममता के स्नेह दिये अपने।
सीता को मैं देखता रहा
देखता रहा दो नयनों को
अधरों को, मुख को जी भर कर
दो आँसू मेरे निकल पड़े क्यों, पता नहीं
मेरे सम्मुख भी मेरी सीता पहुँच गई
मैं पिघल गया !
मानव की ममता मानव को देती श्रद्धा
जीवन को सरस बनाता केवल प्रेम यहाँ
अन्यथा मनुज पत्थर बनकर ही रह जाता !
उस रात उसी सीता का मैं था अतिथि बना
देखा, शत-शत पुस्तिका वहाँ थी रखी हुई
मैंने भी उसे पढ़ाये थे दो-चार श्लोक
सीता के पिता समस्त शास्त्र के पण्डित थे

वे तीर्थाटन में गये हुये थे दूर-दूर !
तब से मेरी है दृष्टि गाँव पर लगी हुई
मैं स्वयं गाँव में जाता हूँ, जब शेष रात छुप जाती है
उस समय हवा कहती मुझसे--
"है गाँव कर्म में लीन तपोवन-स्वर्ग स्वयं"
उस दिन आये थे लोग मगध से पैदल ही
कहते थे मुझसे चलने को गंगा-तट पर
था यज्ञ हो रहा वहाँ एक
मैंने था कहा कि—तुम सहस्र जब पेड़ लगा दोगे नूतन
अमरूद, आम औ' कटहल के
तब एक यज्ञ मैं स्वयं करूँगा उसी जगह
कल मिला मुझे सम्वाद कि तरु लग गये सभी
कार्तिक में ही मैं जाऊँगा !
उस पार कुसुमपुर में भी जाना है मुझको
सुनता हूँ पड़ना चाह रहा दुर्भिक्ष वहाँ !

सप्तदश सर्ग

उतरा वसन्त सुविशाल हिमालय-आँगन में
द्रुम-दल की नूतन पल्लविनी शृंगार कर रही फूलों से
फूलों के गुच्छे डाल-डाल पर लटक रहे
मारुत की कन्या विचर रही वन-कुँजों में
ऋतुपति की वनिता सुन्दरता परिमल की वंशी बजा रही
चांदनी रात में कूक रही कोकिला एक उस डाली पर
जिस पर अनंग बैठा-बैठा पी रहा सुरभि का सुरा मत्त
कुसुमों की शय्या पर अनंगिनी सोई है
अलकों पर ज्योत्स्ना कभी-कभी आ जाती है--
उस झुरमुट के वातायन से जो देव-दारु-तरु में शोभित
कामाकुल नव कामना वक्ष को निरावरण कर देती है
जब वासन्ती हिलकोर मन्द मद भरी उँगलियों से चुपके
गालों पर थपकी दे देती धीरे-धीरे चुम्बन-समान
होठों पर भी गुदगुदा रही झकझोर एक
लहरा जाते कुछ केश कल्पनामय मुख पर
औ' कभी-कभी आँखें भी थोड़ी खुल जातीं
औ' कभी-कभी पलकों को सपने छू देते
उस समय देखता है अनंग निज प्रिया-रूप
कहता है अपने मन में ही--मेरी वनिता उर्वशी स्वयं !
वह गर्वाकुल हो रहा आज
कहता समीर से खोल पंख--

मैं इन्द्रलोक में जाऊँगा
उर्वशी आज आयेगी मेरे आँगन में
वह जायेगी मिथिला में सुन्दरता लेकर
लेकिन विदेह से लज्जित होकर आयेगी
थक गया स्वयं मैं ही उससे
वह हिला नहीं, पी गया मुझे ही एक बार
औ' साँसों से मैं निकल गया
मैं कितनी बार गया लेकिन वह उसी तरह संयमाधीन
प्रेमानुरक्त ही संयमशील महामानव,
बैठा है शिव-कल्पना तपस्या-साधन में।

पश्चिमी शिखर को पार कर गया वह अनंग
मिल गई उर्वशी मानसरोवर के तट पर
दो पुष्पित वल्लरियाँ हैं झुकी हुई अपने--
मधुमत्ताकुल सौन्दर्य-भार से धरती पर
नर्त्तकी बीनने लगी कुञ्ज में प्रिय मोती
जो हार टूटने से सहसा हैं बिखर गये
चुनता अनंग भी जिन्हें साल के पत्ते में
खोजती अनंगिनि इतने में आ गई वहाँ
कोमल कर में कोकिला लिये जो कूक रही थी वहां अभी
उर्वशी विहँसने लगी विहग को देख-देख
खिल-खिला उठी चाँदनी भरी उस रजनी में
दाँतों से बिजली चमक उठी सब के सम्मुख
तब उस अनंग ने कहा--"उर्वशी सुन्दरतम !"
कहते ही यह, उर्वशी उसे देखने लगी दोनों दृग से
मदिरा की मोहक मस्ती में कोमल सुवक्ष में भर साँसें

उन्नत उरोज में ले इंगित यौवन के उठते ज्वारों के !

आया वसन्त पिछले पथ से
औ' घेर लिया उसको कर से
निज भुजा-पाश में बाँध लिया उस नारी को
होठों पर जागा प्यार एक धीरे-धीरे
नयनों से निकली एक हँसी जिसको सुनकर
मुख से भी निकला—"छोड़ो ना,
मुझको मिथिला तक जाना है !"
आकुल वसन्त ने कहा—स्वर्ग से आई हो इस धरती पर
ऐसे कैसे जाओगी वापस हे हृदये !
कुछ फूल यहाँ के भी देखो
कुसुमित कितनी तलहती यहाँ
फूलों का यह साम्राज्य स्वर्ग में वहाँ कहाँ
यह रंग-विरंगे गुच्छ-गुच्छ हैं फूल स्वर्ग से सुन्दर ही !
है स्वर्ग एक एकान्त विपिन
देवता नग्न रहते जिसमें
पीते हैं अमृतानन्द सदा
करते हैं क्रीड़ा सुख के ही
तुम गाती हो उनके सम्मुख वीणा लेकर
करती हो केवल मत्त नृत्य उन्मादपूर्ण
इतना ही तो ?

यह धरती है
नव रस की गागर भरी यहाँ
सब स्वप्न विरोधाभास पूर्ण

मेनका यहाँ पर आई थी मुझसे मिलने
वह प्रिय शकुन्तला को जंगल में छोड़ गई
मानव ने उसे सँवार लिया
प्राणों का प्रिय शृङ्गार दिया
मुद्रिका प्रेम की देकर हिय का हार दिया
यह 'भारत' उसकी स्मृति का ही तो प्रेम-शब्द
है स्वर्ग और भारत का प्रिय सम्बन्ध प्रबल
यह नहीं भुलाया जा सकता है कभी यहाँ
तुम आई हो धरती पर, कुछ लेकर जाओ
उसमें भी, आया है वसन्त मोहकता का साम्राज्य लिए
तुम घिरी हुई हो फूलों से, मदिरामय मत्त समीरण से
जब पूछें इन्द्र, उसे कहना—
"अब पृथ्वी पर ही चलो प्राण !
धरती की शोभा अलका से है बढ़ी हुई !"
कोमल वसन्त के आते ही छिप गई अनंगिन पति-समेत
भुज-वल्लरियों में बँधी हुई उर्वशी अभी
भारत-वसन्त को देख रही अधखुले नयन से बार-बार
अलकों में संमोहन के नीले फूल खिले
जिनको वसन्त ने तोड़ लिया चंचल कर से
औ' देख लिया दोनों आँखों के जादू को
दोनों हाथों से हिला स्कंध को बार-बार
जिन पर नीलम-कर्णाभूषण हैं लटक रहे !

मिथिला का राजद्वार भव्य

प्रासाद भव्य
औ' शयन-कक्ष भी मनमोहक अति आकर्षक
लुक-छुप कर अति उत्सुकता से---कौतूहल से
उर्वशी देखती इधर-उधर उत्तेजित हिरणी आँखों से
है शून्य कक्ष एकान्त, शान्त जिसमें विदेह रहते हैं कभी-कभी
निशि में
प्रहरी को छल की सुरा पिला उर्वशी महल में चली गई
पर ज्ञात हुआ, कोई न यहाँ
सब मना रहे हैं कुसुमोत्सव उपवन के नूतन आँगन में
वह गई वहाँ
कुसुमित अशोक-तरु-पंक्ति-आड़ में ही छिप कर
देखती नवीनोत्सव-तरंग
हो रहे नृत्य उल्लास-हास
जिस तरह डालियाँ झूल रहीं, उस तरह सभी हैं झूम रहे
फूलों की पंखड़ियों को उड़ा रहे रह-रह,
छींटते सुरभि से युक्त नीर
बजते मृदंग, बजती वीणा
जिनकी गति पर नूपुर गुंजित, किंकिणी ध्वनित,
बज रही वेणु मृदु मन्द-मन्द
हो रही व्याप्त अति तरल तान
औ' कभी-कभी शंखादि सुघोषित हो जाते
जब अति उद्वेलित ताल-शिखर सम के समुद्र में उठते हैं
संगीत-ज्वार से सातों सुर जब टकरा जाते एक बार
उस समय सभी के कर उठ जाते हैं ऊपर
हर्षित ध्वनि से आनन्द एक होता सचित्र

हिल्लोलित कानन को शोभा करती है ज्योत्स्ना-स्नान मुग्ध
डुबकियाँ लगाती हैं कलियाँ, डुबकियाँ लगाते मत्त फूल
तैरती सुरभि चंचल समीर की लहरों पर
चाँदनी-सिन्धु कितना अथाह
उर्वशी कह रही मन-ही-मन——यह स्वर्गोत्सव
यदि कर दूँ मैं प्रिय नृत्य एक, फिर क्या कहना,
धरती पर स्वर्ग उतर आए !
पर एक प्रश्न अचरज का यह
हैं जनकराज कैसे विदेह
कामान्ध कल्पना में विभोर हो रहे स्वयं
उन्मादपूर्ण हैं अंग-अंग
हैं मदिर नयन
जीवन में यौवन का प्रभाव
वासना-प्रभा से दीप्त मुखर बेसुध शरीर
चेतनाहीन उल्लसित बुद्धि
जिस तरह इन्द्र रहते अपने सिंहासन पर
गिर जाता है वह राज-मुकुट भी कभी-कभी
तब मैं ही स्वयं पिन्हाती हूँ——
घुँघराले काले केश-सुशोभित मस्तक को सहला देती हूँ
उँगली से !
मैं करूँ नृत्य ?
लेकिन इससे अपमान स्वर्ग का ही होगा
इन्द्राज्ञा से आई हूँ मैं देखने धरा
पर प्राणों में है एक भावना छुपी हुई——
भावना एक——जिसमें लपेट लूँ ज्वाला को

भावना एक——जिसमें विदेह को ही बाँधूँ
कस लूँ योगी को, ऋषि को, मिथिलापति को भुजा-लताओं में
औ' एक बार ..कर दूँ परास्त सुन्दरता से
संगीत-नृत्य की छाया में एकान्त किसी निर्जन गृह में !
देवता कह रहे थे उस दिन
हैं जनक योग में लीन सदा युग-युग से जीवन-ज्योति लिये
अप्सरा नहीं छू सकती है मन प्राणों को
इतनी उन्नत है आत्म-शक्ति
इतना प्रज्वलित समस्त ज्ञान !

कुश की शय्या पर शयन-कक्ष में योगिराज लेटे-लेटे
प्रहरी को कहते उसे भेजदो इसी जगह
वह आई एक लहर लेकर
सुन्दरता की पूर्णिमा लिये
भावना-ज्वार भी लिये संग
आते ही बैठ गई भू पर पागल परिमल की गंध लिये !
नयनों में नारी——तेज लिये !
बोले विदेह——"तुमतो लगती उर्वशी-सदृश
कितनी सुन्दर हो तुम देवी !"
तब मन-ही-मन सोचने लगी वह स्वयं तनिक——
उर्वशी ? गर्व-गरिमा-मंडित,
जिसका प्रभाव योगी पर भी
तो साफ-साफ ही क्यों न कहूँ
मैं वही उर्वशी स्वर्ग-परी

पर कैसे कह दूँ अभी हाय, मैंने तो झूठ कहा नृप से--
गन्धर्व देश की कन्या हूँ
आई हूँ दीक्षा लेने इस रजनी की आधी वेला में !
लेकिन सच कहने में भी आपत्ति नहीं
कहदूँ, मैं हूँ उर्वशी स्वयं
आई हूँ नृत्य-प्रदर्शन में चुपके-चुपके
आई हूँ दर्शन करने को हे देव, अकेली इसी समय !

सौन्दर्य-हासिनी पकड़ रही है सत्य-विटप-लज्जित डाली
चढ़ कर असत्य के टीले पर
औ' इसी समय कहते विदेह--डाली के फूल न तोड़ो तुम,
सुकुमार सुकलिका रो देगी
छू देगा पाप तुम्हें चुपके
पूछती नर्त्तकी विस्मय से--"यह पाप कौन ?
कोई राक्षस है क्या भू का ?
"राक्षस !" सुन कर खिलखिला उठे
उर्वशी मौन आश्चर्यपूर्ण देखती जनक की आँखों को

बोले विदेह--
"है पाप सत्य का महाशत्रु
यह है असत्य का उग्र पिता
जो मानव को करता दुर्बल है आत्मा से
जिससे चरित्र में लगे कलंक उसी में पाप चमकता है !
सत्यानुकूल कर्त्तव्य चरित्र बनाता है
इसलिए सत्य ही पुण्य मनुजता के गृह में
औ' सत्य ?

न्याय का पिता स्वयं !
औ' न्याय ?
एक समताधिकार
अधिकार ?
सहज है शक्ति एक
औ' शक्ति ?
प्रकृति-प्रेरणा स्वयं
प्रेरणा ! प्राण की ही पुकार
औ' प्राण !
ज्योति का पवन एक
है पंच-तत्व-निर्मित जीवन !
उर्वशी सोचती रही, समझती रही वचन
औ' तब विदेह ने कहा--देवि अब नाचो तुम
तुम स्वर्गपुरी से आई हो इस भूतल पर
क्या खाओगी ?
मैं खीर खिला सकता तुमको !
यदि आम्र-काल रहता तो अति पुलकित होती
है अमृत स्वर्ग में, आम्र नहीं
तुम आ जाना उस समय कभी
इस समय टिकोले गिरते हैं"
मोहिनी उर्वशी मुग्ध हुई सुन मृदु वाणी
इच्छानुकुल खा कर वह हुई प्रसन्नवदन
कुछ हुई प्रभावित भी मानव के भावों से
कह उठी--प्रेम ही जीवन है इस धरती पर
बोले विदेह--निश्चय देवी !

है प्रेम-योग सब योगों में श्रद्धानुरक्त
मैं इसी प्रेम के लिये तपस्या करता हूँ मानव-वन में,
मानवता भी है इसी प्रेम से प्रभापूर्ण
यदि प्रेम नहीं रह जाय यहाँ
हो जाय तिमिर से पूर्ण धरा
सम्पूर्ण विश्व का सिंहासन भी छोटा है प्रिय प्रेम-निकट
थे भरत-राम के बन्धु स्वयं साकार प्रेम
ईर्ष्याकुल मां ने दिया उन्हें भी सिंहासन
तज दिया उन्होंने उसे प्रेम की छाया में
हो गये स्वयं योगी भ्राता-स्मृति के गृह में !
उर्वशी साँस छोड़ती हुई बोली——यह तो है ज्ञात मुझे
फिर कहा जनक ने——प्रेम त्याग में पलता है
है त्याग मनुजता की शोभा
मानव का चरमादर्श एक
आदर्श वही, जिससे मनुष्य पावन बनता
जीवन-पवित्रता वही कि जिसमें सत्य रहे प्रेमाश्रु लिये

उर्वशी चाहती थी नाचना मदिर-गति से
वासना-ताल पर पायल बजने वाली थी
पर बजे प्रेम-नूपुर केवल
हो गई कला प्रस्फुटित सत्य-अरुणोदय में
उर्वशी देखती रही जनक की दो आँखें आलोकपूर्ण
वह समझ गई कितने महान मानव विदेह
ढल रही यामिनी मन्द-मन्द
बढ़ रहे उधर स्वच्छन्द चरण

खोलती हुई गति की पाँखें देखा
विदेह को उसने अन्तिम बार तनिक
जो खड़े हुये हैं बाह्य द्वार पर जहाँ पिकी
कहती हैं पिक से भोर हो गया उठो- उठो
पीले-पीले अमरूदों पर सुग्गों के दल चहचहा रहे !

अष्टदश सर्ग

हे जनक ! तुम्हें धरती इतनी क्यों है पसन्द
मिट्टी से इतना मोह तुम्हें क्यों हे योगी
जीवन से इतनी ममता क्यों हे प्रिय विदेह
तुम युग-युगान्त तक रहे मनुजता के भोगी !
राजर्षि ! भोग में योग करोगे यों कब तक
पूछती मृत्यु आकर जीवन में बार-बार
औ' पुनः लौट जाती चरणों को कर प्रणाम
टकरा जाती है काल-चक्र से यह पुकार !
फिर वह कहती--
हे योगिराज सम्राट !
ज्ञात है तुम्हें सृष्टि का ज्ञान
सर्व योगानुरक्त ये प्राण
आत्म ने किया सत्य-संधान
तुम्हें अवगत है जीवन-भेद
ज्ञात है जन्म-मरण के परिच्छेद
है ज्ञात ज्ञान, अभिमान, मान, यश-अपयश से शोभित जीवन
है ज्ञात तुम्हें आँधी, तूफान, बवंडर से गर्वित यौवन
सब-कुछ देखा तुमने राजन्
धरती पर रह कर धरती का सब-कुछ देखा हे ज्योतिर्जन
तुम बाल्मीकि से व्यास काल तक के साक्षी
इतिहास विभा के प्राणों में है तुम्हें छुपाये हे विदेह

है झुका तुम्हारे किरण-चरण पर स्वयं सत्य
योगेश्वर के प्राणों पर भी प्रतिविम्ब तुम्हारा पड़ता है
हो स्वयं हिमालय-शिखर साधना के योगी हे महा जनक
सीता के स्रष्टा ! तुम्हें ज्ञात है सृजन-सत्य
है ज्ञात तुम्हें संहार-कल्पना की क्रीड़ा
तुम जान चुके हो धरा मनुज का कला-कुंज
है मंजुमयी प्रिय प्राण- प्रकृति, चित्रित निकुंज है प्रेम युक्त
जो अनुभव होता यहाँ, कहीं होता न और
भू के समान नभ में कोई है नहीं ठौर
सुख में भी दुख
दुख में भी सुख
है विरह मिलन में और मिलन में विरह यहाँ
हे जनक ! ज्ञात है तुम्हें योग-बल से समस्त
प्राणों को मृत्यु उठा रख देती कहाँ-कहाँ !
ये प्राण ? पवन-से एक बार उड़ जाते हैं !
मानव का सारा अहंकार गिर जाता है
ये प्राण ? न जाने कहाँ निकल कर जाते हैं
मानव का गर्व इन्हें भी पकड़ न पाता है
जीवन रे किसकी व्यंग-सृष्टि !
यह भी तो एक पहेली है
मानव की जिज्ञासा रह जाती मन में ही
जीवन की हवा निकल जाती जर्जर तन से
आदमी कहाँ तक ढूँढ़ सकेगा इस जग को
सीमा का एक प्रदीप जलाती हूँ मैं ही !
सोचती मृत्यु—

इसलिए योग-साधना एक अनिवार्य कर्म
पर भोग ? जनक के जीवन में यह जटिल प्रश्न--
उत्तर देता है स्वयं—गहन अनुभूति–हेतु
तो योग-भोग-मिश्रित ही यह जीवन विराट ?
आश्रित इस पर है मनुज देह ?
इतना ही केवल नहीं जनक तुम हो विदेह !
तुम हो विदेह---कहने में कितना सहज वाक्य
तुम हो "विदेह"---सुनने में भी लगता कोमल
पर यह 'विदेह'–बस एक शब्द कितना महान, कितना कठोर,
कितना कोमल
केवल 'विदेह' ही महाकाव्य
सम्पूर्ण सृष्टि का ज्वलित सत्य
केवल 'विदेह' भू का रहस्य
आकाश, नीलिमा, चन्द्र, सूर्य,
जाना विदेह ने धरती को, वह भूतल है
जाना विदेह ने अम्बर को, वह अम्बर है
संसार ! तुम्हारे आँगन में कोई भी ऐसा हुआ कहीं
जो योग-भोग में लीन किन्तु फिर भी वह सीमा हीन मुक्त ?
आदमी चाहता---मुक्ति मरण के बाद किन्तु
चाही विदेह ने मुक्ति कर्म में हो विलीन
जीवन में ही वह मुक्त रहा योगानुरक्त शुद्धात्मा से
यह एक कठिनतम कार्य, कल्पना जहां मौन
ऐसी साधना हुई जनक के जीवन में !
हे चिर विदेह !
तुम स्वयं मुक्ति में लीन, मुक्ति से दूर-दूर

जीवन-बन्धन के बन्धन हीन ज्वलित योगी
अनुरक्ति-विरक्तिमयी प्रतिमा से भी पवित्र
तुम राग-विराग-भरा जीवन का ज्योति-पात्र
तुम देख रहे, मानव के वन में भी आती हैं षट् ऋतुएँ—
लेकर असाढ़ की घटा घोर
सावन के घन-झकझोर—
विकल भादों के बादल की हिलोर
आसिन-कातिक की स्निग्ध चाँदनी की शोभा
पावस की मेघमयी रातें
फिर शरद-सौम्यता की बातें
हेमन्त-प्रकम्पित शीतलता
फिर शिशिर-शीत की निष्ठुरता
औ' तब वसन्त के गुच्छ-गुच्छ नव खिले फूल
नूतन कलियाँ, पल्लव नवीन
मदिरा से मत्त पवन-झोंके
तब ग्रीष्म-ज्वाल-उष्णता ज्वलित
जिसमें धरती तपती, उड़ती वाष्पों की नव आत्मा प्रसन्न
जो बनती रहती घटा घोर
नाचते देखकर मुग्ध मोर
इस तरह यहाँ होते रहते हैं परिवर्तन।
प्रतिवर्ष यहाँ
कूकती कोकिला उसी सत्य की डाली पर मंजरियों में
चातकी उड़ा करती है उन्हीं बदरियों में
जीवन, यौवन परिवर्तित जन्म-मरण लेकर
निद्रा में भर कर अमर जागरण के –र्शन ?

मिट्टी की ममता जीवन को धरती स्वयं
फूलों को छोड़ मनुज जायेगा कहाँ और
फिर पता नहीं चाँदनी मिलेगी या कि नहीं
ऊषा-संध्या-लालिमा मिलेगी पुनः कभी ?
उठती अतृप्ति की वीणा से झंकार तृप्ति की ज्योति भरी
पर तृप्ति कहाँ मिलती मन को
इतनी सुन्दर यह धरती है, इतने सुन्दर हैं फूल यहाँ
काँटे भी कोमल लगते हैं जब मधुर पीर भर देते हैं
ये धूप-छाँह,
ज्वाला-शीतलता भरी एकता की शोभा से पूर्ण धरा
क्या नहीं मिला है धरती को ?
इसलिए मनुज करता जीवन-कामना दीर्घ
संचय करता है ज्ञान-शक्ति,
अनुभूति बुद्धि
तोड़ती स्वयं मैं ही जीवन के फूल यहाँ
गूँथती हार प्राणी-प्राणों के फूलों से
अर्पित करती हूँ महाकाल को जो कि सृष्टि का प्रगति-पिता
मानव जिसकी छाया में है परमाणु वृन्द
मानव जिसकी उज्ज्वलता में विभ्राट स्वयं
मुर्दे हो जाते सभी देह जब छू देती हूँ प्राणों को
लेकिन विदेह का देह सँजोता प्राण-ज्योति
जिसको न छू सकी हूँ अब तक
है योग आत्म-विज्ञान एक
जिसके प्रयोग से जीवन होता ज्योतिपूर्ण
साधना-स्नात सांसों का यह व्यायाम शुद्धता देता है

दीर्घता आयु की वायु घेरती युग-युग तक
केवल शरीर-विज्ञान शक्ति का ही विकास
पर आत्मा का विज्ञान ज्ञान-निर्मित प्रकाश !
चाँदनी लूटती हुई घटा आ रही एक पश्चिम दिशि से
मारुत के झोंके आते रजनीगंधा पर
सुविशाल वृक्ष की छाया में बैठे हैं ज्योतिर्मय विदेह
जिनके नयनों में ही सहस्र इतिहास-पृष्ठ खुलते जाते
प्राणों से कहता स्वयं आज सम्पूर्ण ज्ञान--
अब कुछ भी शेष समझने को रह गया नहीं
धरती ने जीवन को सब कुछ दे दिया स्वयं
जब प्रेम और कर्मादि योग हो गये पूर्ण
पर एक प्रश्न लड़खड़ा रहा है न्याय लिये
इतनी अशान्ति क्यों मानव में ?
मानव स्वतन्त्र कब हो सकता ?
साधारणतः मानव जीता है भूख-प्यास का सत्य लिये
रे, कौन करेगा समाधान मानवता का ?
मानव-विभेद का अन्धकार है फैल रहा
अर्थाभिमान से मत्त स्वार्थ प्रभुता का विष फैलाता है
सम्राट एक विश्वास-केन्द्र जिसमें न सत्य की व्यापकता
आने वाला युग सोचेगा कर्मानुकूल
जब तक मानव की मुक्ति नहीं तब तक न धरा होगी
विमुक्त !

मानव आते हैं, जाते हैं
धरती अचला है उसी तरह षटऋतु-शोभित गति-परिवर्तन
में फुल्ल मग्न

कल्पना कुंज, साधना कुंज, क्रीड़ा निकुंज सब कुछ धरती
आदमी यहाँ सब कुछ करता
वासना-प्रेम-साधना-सुविकसित छाया में
माया इतनी है प्रबल कि सबको घेर रही
इतना है जग में अन्धकार
पर ज्योति-ज्वार भी उठता है तम-सागर से
जब ज्ञान-चन्द्र साधना-गगन-मन-प्राणों में उग जाता है
दुर्बलता और सबलता आकर टकरातीं
जब हवा परिस्थिति की चलती अति वेग लिये
मानव-मन में कामना और तृष्णा के नव तूफान लिये
बुझ जाता है चेतना-दीप
हँस पड़ती संयमपूर्ण शक्ति
है योग कठिन पर भोग सहज
इसलिये कठिनता से रहते हैं दूर-दूर अधिकांश मनुज
वासना-वृक्ष की छाया मोहक होती है
औ' प्रेम-विटप के नीचे जलती अग्नि ज्वाल
जो तप-सा ही देती तन्मयता-घटा युगों के बाद यहाँ
वासना-विजय सपने की केवल एक कली है काम पूर्ण
पर प्रेम-विजय जीवन का सुरभित फूल एक आलोक पूर्ण
वह सुख है जो दे स्निग्ध शान्ति
वह दुख है जो दे अति अशान्ति !

चाँदनी लूटती हुई घटा आई सम्मुख
पावस के सारे फूल खिले हैं रजनी में
औ' इसी चिन्तना-वेला में आ गये व्यास
पर हैं विदेह अति ध्यान मग्न

ब्रह्मोत्सव में आत्मा आनन्द मनाती है
कोई कहता है प्राणों में——छोड़ो धरती
इतना उपभोग करोगे मिट्टी का महर्षि
अब तजो देह हे प्रिय विदेह
अब मिलो ज्योति में वृद्ध जनक
आलोक स्वयं कहता तुमसे
कितने वट वृक्ष लगाओगे अपने कर से
साँसों की ज्योति निकालो तुम भी हे विदेह !

ज्ञानी महान, ऋषि-पुण्य व्यास ने देख लिया
है मृत्यु खड़ी
श्रद्धानुरक्त है काल खड़ा
शिव का मन्दिर सम्मुख जिसमें जल रहा दीप झिलमिल-
झिलमिल
आते झोंके, जाते झोंके
वट का विशाल वह वृक्ष हिल रहा है रह-रह
झर रहे मेघ झर-झर-झर-झर
झाँकती चाँदनी उत्तर से जिस ओर हिमालय खड़ा-खड़ा—
सुनता है अपने मस्तक पर पार्वती-गीत
हो रहा भोर उस पार वहाँ
है यहाँ अभी भी शेष निशा, हैं विहग मौन निद्रित सुषुप्त
मिल रही ज्योति से ज्योति स्वयं
हो रहा लुप्त संदिग्ध काल
औ' मृत्यु उड़ी जाती सुदूर
देखा विदेह का देह व्यास ने प्रथम बार जो शव-समान

श्रद्धा के दो आँसू छलके युग-नयनों में
ढँक रहे कफन करुणा का उस पर व्यास स्वयं

यह मिथिला है
मिथिला की उज्ज्वल मिट्टी है जिस पर विदेह की लाश पड़ी!
देखता अरुण प्राची का स्वर्णिम द्वार खोल
किरणें करती हैं नमस्कार रे, बार-बार
इस धरती को
धरती के तपसी मानव को !